भगवान महावीर पच्चीस सौ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

तीर्थंकर चरित्र

४

जैन कथामाला

लेखक-मधुकर मुनि

सम्पादक-श्रीचन्द सुराना 'सरस'

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन १०वां पुष्प

पुस्तक जैन कथामाला भाग ४,
लेखक श्री मधुकर मुनि जी महाराज
सम्पादक श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
पीपलिया बाजार ब्यावर
प्रथम बार अप्रैल १९७२
मूल्य एक रुपया मात्र
मुद्रण व्यवस्था संजय साहित्य संगम
दालबिल्डिंग नं० ५, आगरा-२

मुद्रक
रामनीकुमार शिवहरे,
मोहन मुद्रणालय
१३/३०६, माई की मंडी, आगरा २

समर्पण

जिनके
परम पुनीत चरण-कमलों का
आश्रय पाकर
मैंने अपने जीवन का
नव-निर्माण किया,
उन
स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी जी
श्री जोरावरमल जी महाराज
को,

—[illegible]

अपना पृष्ठ

जैन साहित्य को जिन चार अनुयोगो मे बांटा गया है, उनमें एक है—धर्म कथानुयोग। धर्मकथा के द्वारा उपदेश, शिक्षा एव प्रतिबोध देने की शैली बहुत प्राचीन है। प्राप्त आगमो की सूची के अनुसार भगवान महावीर की वाणी से जिन धर्मकथाओ का सकलन किया गया था, उनकी सख्या कई हजार थी, किन्तु आज बहुत सी कथाएँ लुप्त हो गई है। ज्ञाता-सूत्र, निरयावलिया एव उपासकदशा, विपाकसूत्र आदि कुछ ही आगमो में गिनती की बहुत कम कथाएँ बच पाई हैं। आगमो के बाद महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने प्राचीन जैन इतिहास की लुप्त होती कथाओ को अपने ग्रन्थो मे सक्षिप्त रूप से लिख-कर उनका अस्तित्व स्थिर कर दिया था। उनके पश्चात् आचार्य जिनदासगणी, सघदासगणी जैसे भाष्यकारो ने आचार्य अभयदेव, शीलाक, भावविजय जी जैसे टीकाकारो ने, आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र जैसे साहित्य शिल्पियो ने तथा देशी भाषाओ (गुजराती, राजस्थानी) आदि के रास लेखक आचार्यो एव विद्वानो ने इन बहुमूल्य कथाओ को साहित्यिक रूप देकर स्थिर भी रखा, और लोकजीवन के लिए प्रेरणा स्रोत भी बनाया।

प्राचीन जैन साहित्य के अध्येता विद्वानो का मत है कि

जैन साहित्य का कथा भंडार, सागरके अन्त स्तल की तरह असीम और अपरिमेय है।

बहुत समय से मेरी भावना थी कि हम वार्तालाप, प्रवचन, शिक्षा एव उपदेश के समय जनता को जो कहानियां एव चरित्र सुनाते हैं, उन्हे सुनकर श्रोता उस समय तो भाव विभोर हो जाते हैं, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका असर मिट जाता है। चूंकि कहानियाँ मौखिक होती हैं, और बहुत से लोग उन्हे सुन भी नही पाते और सुनने वाले भी अधिक याद नही रख पाते, अत यदि उन्हे सरल भाषा मे लिखकर प्रकाशित किया जाय तो उनमे इन कहानियो एव चरित्रो की आदर्श शिक्षा जनता मे अधिक व्यापक और अधिक स्थायी बन सकती है।

श्री अमरभारती के योग्य सम्पादक एव जैन साहित्य के मर्मज्ञ लेखक श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' से मैंने अपनी उक्त भावना की चर्चा की और इस कार्य मे सहयोगी बनने के लिए आमन्त्रित किया। मुझे प्रसन्नता है कि 'सरस' जी ने मेरी भावना का आदर किया और पूर्णशक्ति के साथ सहयोग देना भी स्वीकार किया है। मैंने अपनी लिखित, अलिखित सभी सामग्री उनके हाथो मे सौंप दी और सपादित कर प्रकाश मे लाने की जिम्मेदारी भी। मेरा विचार है सम्पूर्ण जैन साहित्य का आलोडन कर अमृतरूप मे जो-जो कहानियाँ, चरित्र एव प्रेरक घटनाएँ हमे प्राप्त हो, उन सबको क्रमश जनता के हितार्थ भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी

समारोह के उपलक्ष्य में प्रस्तुत कर दिया जाय। जैन साहित्य की सेवा के साथ-साथ भगवान महावीर की शिक्षाओं का जन-जन तक प्रसारित करने का यह एक सुन्दर माध्यम भी बन सकता है।

पहले तीन भागों में क्रमशः सोलह सतियों की जीवन-कथाएँ लिखी गई हैं। इन्हीं के साथ जैनजगत की बहुप्रसिद्ध महासतियाँ अंजना, मदनरेखा, चेलना और शीलवती की कथाएँ भी लिखी गई हैं।

आगे के चौथे, पाँचवें तथा छठे भाग में तीर्थंकरों का पवित्र चरित्र अंकित किया गया है।

चौबीस तीर्थंकर जैन जगत की महान विभूतियाँ हैं। उनका पावन जीवन साधकों व सामान्य श्रद्धालुओं के लिए एक प्रेरणा स्रोत है। यद्यपि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में तीर्थंकरों का चरित्र गुम्फित किया गया है, किन्तु उनमें अधिकतर चार पाँच तीर्थंकरों के चरित्र ही अधिक विस्तार के साथ उपलब्ध होते हैं, बाकी तीर्थंकरों के चरित्र में कथा भाग जैसा बहुत कम प्रसंग प्राप्त होता है। इस कारण प्रस्तुत लेखन में कई कठिनाइयाँ भी आईं, फिर भी कथाओं की रोचकता बनाये रखने के लिए तीर्थंकरों के उपदेश व वार्तालाप आदि का वर्णन भी विस्तार के साथ दिया है।

यह तो प्रायः निर्विवाद तथ्य है कि तीर्थंकरत्व एक जन्म की साधना का ही फल नहीं है। वह अनेक पूर्व जन्मों में की गई

साधना तपश्चर्या आदि की महान उपलब्धि है। इस दृष्टि से तीर्थंकरो के पूर्व जन्मो के चित्रण का अपना महत्त्व है। उनकी साधना आराधना का स्पष्ट दर्शन होनेपर पाठक के मन मे उन आदर्शों की प्रेरणा उमडती है एक सुन्दर छाप अंकित होती है, जो उसे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करने मे सहायक सिद्ध हो सकती है। इस विचार मे तीर्थंकरो के पूर्व जन्मो का चित्रण भी उपयोगी व रुचिकर प्रतीत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

हिन्दी भाषा मे तीर्थंकरो के कुछ जीवन चरित्र प्रकाशित हुए हैं। उनमे कुछेक अति विशाल है तो बहुत से अति संक्षिप्त। मैंने मध्यम मार्ग अपनाया है। तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण जानकारी प्रत्येक चरित्र के प्रारम्भ मे दे दी गई है, जिससे कथानक का प्रवाह स्खलित न हो। प्रस्तुत मे भगवान ऋषभदेव, मल्लीनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के चरित्र काफी विस्तृत हो गये हैं, फिर भी पाठको को उनमे कुछ नवीनता, रोचकता और आकर्षण बना रहेगा ऐसी आशा है।

भगवान महावीर की पच्चीस सौ वीं निर्वाण तिथि के उपलक्ष्य मे यह एक अति उपयोगी सामग्री पाठको के हाथो मे पहुँच रही है, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

नोखा (चादावतोका) —मधुकर मुनि

२६-१-७२

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी के मानस में एक सुमधुर कल्पना कई दिनों से स्फुरित हो रही थी कि एक ऐसी कथामाला की संयोजना की जाय—जिसमें जैनधर्म से सम्बन्धित प्रचलित प्रायः सभी कथाएँ सरल और साहित्यिक शैली में जनता के सामने आ सकें।

मुनि श्री जी ने अपनी यह भावना श्री 'अमरभारती' के यशस्वी सम्पादक श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' के सम्मुख रखी। उक्त बात पर सरस जी के साथ विचार विनिमय करने के बाद यह निर्णय निकला कि पच्चीस व इससे कुछ अधिक भागों में अपनी यह कथामाला पूर्ण की जा सकती है।

मुनि श्री जी की प्रेरणा पर 'सरस' जी ने कथामाला के संपादन का भार अपने ऊपर उठा लिया। अब इस कथामाला के लेखक हैं श्री मधुकरमुनि जी महाराज और सम्पादक हैं श्रीयुत 'सरस' जी।

मुनि श्री जी की भाषा सरल है और सरसजी की सम्पादन शैली सरस है। इस तरह सरलता व सरसता का यह सुन्दर संगम है।

कथामाला का प्रारम्भ जैन संसार की सुप्रसिद्ध सोलह सतियों के पवित्र चरित्र से किया गया। प्रथम तीन भागों में बीस सतियों की कथाओं के बाद आगे तीन भागों में चौबीस तीर्थंकरों की पावन प्रेरणाप्रद जीवन कथाएँ प्रकाशित की जा रही हैं।

तीर्थंकरों का पावन जीवन जैन ससार मे अत्यन्त श्रद्धा का विषय है। उनका हिन्दी भाषा में सरस व सुबोध शैली मे अब तक कोई सक्षिप्त जीवन चरित्र नहीं था। इन तीनो भागो के द्वारा इस अभाव की पूर्ति हो गई है।

चौथे भाग म भगवान ऋषभदेव से शीतलनाथ तक का। पाचवे भाग म भगवान श्रेयासनाथ से भगवान अरिष्टनेमि तक का और छठे भाग मे भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का ऐतिहासिक जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है।

कथाओ के आलेखन मे सुन्दर शैली को अपनाते हुए उसमें सरलता व सरसता की सरक्षा का ध्यान पूर्ण रूप से रखा गया है।

इन सब भागो के सपादन-पारिश्रमिक का अर्थभार श्रीमान गुमानमल जी सा० चोरडिया (मद्रास) ने वहन किया है। अत हम आपके विशेष आभारी हैं। आप हमारी सस्था के अनन्य सहयोगी एव स्तम्भ रूप हैं।

अन्यान्य जैन सस्थाओ से भी जैनधर्म की कथाओ के प्रकाशन का प्रयास हुआ है और अभी भी हो रहा है, उसी दिशा मे हमारा भी यह एक पुनीत प्रयास है। आशा है हमारा यह प्रयास पाठको की रुचि को सन्तुष्ट करेगा इसी विश्वास के साथ

ब्यावर
रक्षाबधन
वि० स० २०२८

—मत्री
सुगनचन्द कोठारी
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

अध्येता एवं प्रवक्ता हैं, बहुत समय से उनकी इच्छा थी कि जैन कहानियों को सरल व रोचक शैली में लिखकर क्रमशः प्रकाशित किया जाय, भले ही २५-३० या अधिक भाग तैयार हो सकें, किन्तु पूरा कथा साहित्य उसमें स्पष्ट हो जाना चाहिए। इधर में मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी (तेरापंथी) ने जैन कहानियाँ नाम से लगभग २५ भाग लिखे हैं। राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमर मुनि जी के निर्देशन में भी जैन साहित्य कथामाला के नाम से चार भागों का सम्पादन मैंने किया था। इन प्रयत्नों से जनता में कहानी साहित्य के पढ़ने की रुचि जगी है।

मुनि श्री मधुकर जी स्वयं भी इन कहानी साहित्य के विशेष मर्मज्ञ हैं, प्राचीन कथासाहित्य का गहरा अध्ययन है उनका। जब उनका आदेश निर्देश मिला, तो उनके प्रवचनों में आयी, वैसे ही लिखी गई तथा संकलित कहानियों का चयन सम्पादन कर प्रस्तुत करने का यह उपक्रम मैंने किया है। कहानियाँ तो पुरानी ही हैं, और प्राय प्रसिद्ध भी हैं किन्तु फिर भी उनको सर्वथा नवीन भाषा शैली में मौलिकता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहा है। अतः मुझे विश्वास है पाठकों को इसमें ताजगी और कुछ नये विचार संकेत भी मिलेंगे।

मैं मुनि श्री मधुकर जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त स्नेह के साथ यह भार मुझे सौंपा है। उनके साहित्य से मुझे सामग्री प्राप्त करने में काफी सुविधा रही है और मार्गदर्शन तो मिला ही है। साथ ही मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के अधिकारियों ने इस साहित्य को क्रमशः प्रकाशित करने का निश्चय कर मुझे सम्पादन के लिए प्रोत्साहित भी किया है मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। आशा करता हूँ मेरा यह प्रयत्न पाठकों को रुचिकर लगेगा।

रक्षाबन्धन —श्रीचन्द सुराना 'सरस'
६-८-७१

आभार दर्शन

हमारे प्रकाशन सहयोगी

१ श्रीमान छोटेमल जी घाडीवाल

श्रीमान घाडीवालजी एक धर्मप्रेमी सज्जन और उदारमना श्रावक हैं। सम्पन्नता के साथ सरलता और विनम्रता का गुण भी आप मे दर्शनीय है। आपके पूज्य पिता श्री गणेशमल जी घाडीवाल भी बड़े धर्म प्रेमी सज्जन थे। आप चार भाई हैं, एक आपसे बड़े हैं व दो छोटे। आपके परिवार मे साधु सन्तो के प्रति विशेष भक्ति व श्रद्धा का भाव है। आपके चार पुत्र व दो पुत्रियाँ हैं। इस प्रकार श्री घाडीवालजी का परिवार पाली (राजस्थान) का एक सुखी सम्पन्न व धार्मिक परिवार है। पाली मे ही आपका व्यापार है। छोटमल रूपचन्द, के नाम से आपकी फर्म एक प्रतिष्ठित फर्म है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे अभिरुचि लेते हुए आपने ५००) रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की है। आपकी इस उदारता के लिए सस्था आभारी है, साथ ही यह आशा भी करती है कि भविष्य मे भी इसी प्रकार आपका सत् सहयोग हमे मिलता रहेगा।

२ श्रीमान दुलीचद जी लोढा

श्री लोढाजी कुचेरा (मारवाड) के मूल निवासी हैं। आप स्व० श्री नेमीचदजी लोढा के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। आपके दो छोटे भाई हैं— श्री छाटमल जी एव श्री सिद्धि चन्द जी।

श्री जैन श्वेताम्बर [illegible]

1

भगवान ऋषभदेव

मारिणी

जन्मसमय	अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का अन्तिम चरण।
जन्मतिथि	चैत्रकृष्णा अष्टमी
पिता	अन्तिम कुलकर नाभिराजा
माता	मरुदेवा
जन्म स्थान	विनीता नगरी (इक्ष्वाकुभूमि)
कुल	इक्ष्वाकुकुल
दीक्षा दिन	चैत्रकृष्णा अष्टमी
प्रथम भिक्षा दिन	अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ला ३) बाहुबली के पौत्र कुरुजनपद के राजा श्रेयांसकुमार द्वारा इक्षुरसदान
केवलज्ञान	फाल्गुन कृष्णा ११ (वटवृक्ष के नीचे)
प्रथम गणधर	ऋषभसेन (भरत चक्रवर्ती के पुत्र)
शिष्य सम्पदा	चौरासी हजार साधु तीन लाख साध्वियां।
चिह्न (लांछन)	वृषभ
निर्वाण	माघ कृष्णा १३, छह दिन के उपवास में अष्टापद पर्वत पर

दिव्यदान

—०—

"ढम ढम ढम" ढोलक की आवाज के साथ एक पुरुष उद्घोषणा कर रहा था—"नगरवासियो ! सुनो ! धन्ना सार्थवाह व्यापार के लिए अमुक दिन को वसन्तपुर की ओर प्रस्थान करना चाहता है, जो कोई नागरिक, व्यापारी अथवा वसंतपुर को जाने के इच्छुक साधु सन्यासी इस सार्थ के साथ जाना चाहें वे सहर्ष चल सकते हैं। सार्थवाह उनके लिए सब उचित व्यवस्था और सुविधायें देगा। विकट पथ पार करने में सबका सहयोग करेगा।"

इस घोषणा को सुनकर अनेक व्यापारी, यात्री सार्थवाह के साथ व्यापारार्थ विदेश जाने के लिए तरह-तरह का सामान किराना, मसाला आदि लेकर तैयार हुए।

धर्मघोष नामक एक जैन आचार्य ने भी घोषणा सुनकर वसन्तपुर की ओर धर्म प्रचार हेतु जाने के लिए अपने शिष्य मण्डल से परामर्श किया। वृद्ध शिष्यों ने कहा—"यह रास्ता बहुत विकट है, बीच में भयंकर अटवी है, दुर्गम नदी नाले, पहाड़ आयेंगे, योग्य आहार आदि सुलभ होना कठिन है, अतः आप ऐसा विचार न करें।"

आचार्य ने कहा—"देवानुप्रियो ! आत्मकल्याण के साथ पर-उपकार के लिए ही तो हमने यह कठोर साधना पथ स्वीकार किया है, जीते-जी मृत्यु का वरण करने का संकल्प लिया है तो फिर इन कष्टों से डरना क्या ? ऊपर से सिर दिया

तो मूसल से क्या डर ? कष्टो की परवाह किये विना हमे जन-कल्याण के लिए उधर चलना चाहिए !"

आचार्य के पवित्रसकल्प के लिए सब शिष्यो ने अपनी सहप स्वीकृति दी । आचार्य स्वय धन्ना सार्थवाह के पास पहुँचे । सार्थवाह ने नमस्कार कर पूछा—"भते ! आज मुझे कैसे दर्शन देकर उपकृत किया ? आपकी क्या सेवा करूँ ?"

आचार्य—"सार्थवाह ! तुम वसन्तपुर की ओर प्रस्थान कर रहे हो ऐसा सुना है ! तुमने अपने पुरुषार्थ से वैभव ही नही, किन्तु विपुल कीर्ति भी अर्जित की है । तुम्हारी कीर्ति हमने सुनी है । तुम जैसे धर्मानुरागी के साथ हमारा धर्म सघ भी इस दुगम जगल पथ को पार कर उधर धर्म प्रचार के लिए जाना चाहता है ।"

सार्थवाह ने प्रसन्नता के साथ कहा—"महाराज ! मेरा अहोभाग्य है, इस बीहड मार्ग मे आपका शरण भी मुझे प्राप्त होगा ! साधु सन्तो के दर्शन व सगति से तो भयकर सकट भी टल जाते हैं, यह तो छोटा-सा दुरुह पथ है । आपकी इस कृपा से हम सभी साथ के यात्री अत्यन्त प्रसन्न होगे ।"

नियत दिन पर धन्ना सार्थवाह अनेक व्यापारेच्छु यात्रियो और सेवको के साथ सुरक्षा आदि के सब साधन लेकर क्षिति-प्रतिष्ठपुर से निकला । आचार्य धर्मघोप भी अपने शिष्य समुदाय के साथ निकल पडे ।

मध्याह्न का समय हुआ तो एक सुरक्षित स्थान पर सार्थ

(यात्रीदल) रुका। भोजन तैयार हुआ। सार्थवाह ने सबसे पहले आचार्य को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। आचार्य ने सार्थवाह को साधु की भिक्षाचरी के सब नियम उपनियम समझाये। साधु के नियमों के अनुकूल आचार्य ने भोजन आदि ग्रहण किये। सार्थ के सभी यात्री आचार्य व साधु समुदाय को अपने साथ देखकर बहुत प्रसन्न व निश्चिंत हुए।

चलते-चलते वर्षा ऋतु आ गई। आकाश में मेघ गर्जने लगे, घटाएँ घहराने लगीं और मूसलाधार पानी बरसने लगा। समूचा जंगल सरोवर-सा बन गया, रास्ते कीचड़ से भर गये। चलना मुश्किल हो गया। यह देखकर सार्थ वर्षावास बिताने के लिए एक सुरक्षित स्थान पर रुक गया। आचार्य भी अपने शिष्यों के साथ किसी निर्दोष गिरि-गुफा में जाकर ठहर गये।

महीनों तक पानी गिरता रहा। रास्ते बन्द रहे। सार्थ को बहुत दिन तक रुकना पड़ा। इसी बीच उनकी खाद्य सामग्री भी समाप्त हो गई। भूख से व्याकुल यात्री जंगल के कन्द मूल आदि खाकर रहने लगे।

एक दिन सार्थवाह को अचानक याद आया- मेरे साथ जो आचार्य आये हैं उनकी क्या हालत हुई होगी? मैंने तो इतने दिन हुए उनकी खोज खबर भी नहीं ली। उनके नियम बड़े कठोर हैं, कन्द-मूल आदि खाते नहीं, कच्चा (सचित्त) जल भी पीते नहीं, फिर कैसे उनका गुजारा हुआ होगा? सार्थवाह झट से उनकी खोज करने निकला। आचार्य के पास

आकर उसने अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी और फिर आहार की व्यवस्था के सम्बन्ध मे पूछा।

आचार्य ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"कोई चिन्ता नही है। साधु को अपने नियम के अनुकूल भोजन मिले तभी वह ग्राह्य है, अन्यथा उपवास रखने मे भी उसे उतनी ही प्रसन्नता है जितनी भोजन मे।"

सार्थवाह को यह जानकर बहुत ही खेद हुआ कि जबसे वर्षा शुरु हुई है आचार्य आदि ने आहार भी ग्रहण नही किया है। सार्थवाह ने अत्यन्त भावविह्वल होकर आचार्य को भिक्षा के लिए चलने की प्रार्थना की। आचार्य आये, पर सार्थवाह के रसोडे मे सिवाय घृत के कोई भी प्रासुक वस्तु नही थी। अपने खाने के घृत मे से सार्थवाह ने बडी भावना के साथ घृत-दान किया।

सुपात्रदान मे भावना की अत्यधिक शुद्धता और प्रबलता के प्रभाव से धन्ना सार्थवाह को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। दान के दिव्य प्रभाव से उसे अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हुए।

वर्षा समाप्त होने पर सार्थ वसतपुर की ओर चला। आचार्य धर्म प्रचार करते रहे और धन्ना सार्थवाह धनार्जन के साथ-साथ अब देव-गुरु-धर्म की भक्ति भी करने लगा। साधु-जनो के सहज संग मे सार्थवाह के जीवन की दिशा भोग से हटकर त्याग मार्ग की ओर मुड गई।

सेवा

—०—

धन्ना सार्थवाह की आत्मा अनेक शुभयोनियो मे जन्म लेने के बाद एकबार सुविधि नाम के प्रसिद्ध वैद्य का पुत्र हुआ । उसका नाम था जीवानन्द । जीवानन्द अपनी विद्या मे अत्यन्त कुशल था । उसके पाँच अन्य घनिष्ठ मित्र थे । एक बार वे छहो मित्र घूमते हुए एक उद्यान मे गये । वहा एक तपस्वी मुनि को ध्यान मे खडे देखकर नमस्कार किया । मुनि कुष्ट रोग मे पीडित थे, उनके शरीर से पीव झर रहा था । मुनि की यह करुण दशा देखकर छहो मित्रो का हृदय भर आया । पाँचो ने जीवानन्द से कहा—"मित्र ! तुम इतने बडे वैद्यराज हो, हजारो लोगो को स्वस्थ करते हो, किन्तु ऐसे महान तपस्वी की चिकित्सा मे उपेक्षा क्यो ?"

जीवानन्द—मित्रो ! मेरे मन मे भी यही बात आई ! मेरी विद्या की सफलता तो इसी मे है कि मैं ऐसे महान तपस्वी की चिकित्सा-सेवा करूँ । देखो, कितनी भयकर वेदना है, फिर भी कितनी शान्ति ! कितनी सहनशीलता ! अच्छा, कल मैं मुनि की चिकित्सा करूँगा, तुम लोग इन तीन वस्तुओ को जुटावें—रत्नकम्बल, गोशीर्ष चन्दन और लक्षपाक तेल ! तेल मेरे पास तैयार है, दो वस्तुएँ दुर्लभ अवश्य हैं, पर खोज करने पर क्या नहीं मिलता ? जिन खोजा तिन पाइयाँ—तुम लोग ये दो वस्तुएँ लाओ, मैं चिकित्सा की तैयारी करता हूँ ।"

पाँचों साथी औषधि की खोज करते हुए नगर के चतु-

चप्पे तक घूम आये। आखिर मे एक वृद्ध वणिक की दुकान पर ये दोनो वस्तुये मिली। वृद्ध वणिक ने राजकुमार के साथ इन गाहकों को देखकर पूछा—"आप लोग इतनी बहुमूल्य औषधि लेकर क्या करेंगे ?"

राजकुमार ने कहा—"इनका मूल्य जो हो सो लीजिए, ये वस्तुयें हमे तुरन्त दीजिये, एक मुनि को कुष्ट रोग हो गया है, उनकी चिकित्सा करनी है !"

वृद्ध वणिक ने कहा—"इनमे से प्रत्येक वस्तु एक-एक लाख दीनार की है।"

राजकुमार ने ज्यो ही स्वर्णमुद्राएँ निकाल कर देने के लिए अपने साथी से कहा, वणिक ने कहा—"ठहरिये ! आप मुनि की चिकित्सा करने के लिए ले जा रहे हैं न ?"

'हाँ'—राजकुमार ने कहा।

"तो फिर ले जाइये ! मैं इनका मूल्य नही लूगा ! ऐसे दान का तो महान पुण्य है, एक-एक लाख दीनार लेकर मैं अपने महान पुण्य का बेचने की मूर्खता नही करूँगा। आप लोग भाग्यशाली हैं, जो मुनि की सेवा कर रहे है, इतना पुण्य मुझे भी लेने दीजिये।"

वणिक की उदारता और भक्ति देखकर सभी गद्‌गद हो गये। दोनो वस्तुयें लेकर पाँचो साथी जीवानन्द के पास आये। जीवानन्द ने अपने हाथो से मुनि के पीव झरते हुए घावो पर लक्षपाक तैल की मालिश की और फिर रत्नकम्बल स पूरे शरीर को ढक दिया। कुछ ही देर मे रोग के कीडे (कृमि)

कुलबुलाते हुए कम्बल से लिपट गये। जीवानन्द ने तीन बार ऐसा प्रयोग करके मुनि के शरीर को रोग मुक्त कर दिया। फिर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया जिससे सब घाव भर गये और मुनि पूर्ण स्वस्थ हो गये।

मुनि का स्वस्थ हुआ देखकर सभी मित्र प्रसन्न हुए। जीवानन्द का हृदय तो अत्यन्त प्रसन्न था। मुनि की सेवा से उसके हृदय में उल्लास की तरंगें उछल रही थी। मुनि ने इन सबको उपदेश सुनाया और कल्याण का मार्ग दिखाया।

इस प्रकार दान-सेवा-परोपकार आदि शुभ कृत्य करते हुए जीवानन्द का पुण्यशाली आत्मा स्वर्ग आदि की यात्रा करता हुआ अन्त में नाभि राजा (अन्तिम कुलकर) की पत्नी मरुदेवा के गर्भ में पुत्र रूप उत्पन्न हुआ। पुत्र के गर्भ में आने पर मरुदेवा ने चौदह महास्वप्न देखे, जिनमें सर्वप्रथम वृषभ का स्वप्न देखा था, तथा जन्म के बाद उसकी छाती पर वृषभ जैसा चिन्ह होने के कारण पुत्र का नाम 'ऋषभकुमार' रखा गया। ऋषभ कुमार के प्रभावशाली व्यक्तित्व और लोक-कल्याणकारी कार्यों के कारण बाद में श्रद्धा एवं भक्ति के साथ लोग उन्हें 'ऋषभनाथ' एवं 'ऋषभदेव' के नाम से भी पुकारने लग गये।

ऋषभदेव का हृदय बहुत ही कोमल था। एक बार कोई बाल युगल (युगलिक बालक-बालिका जो भविष्य में पति-पत्नी का रूप लेने वाले थे) साथ-साथ क्रीड़ा कर रहे थे। खेलते-कूदते दोनों एक ताल वृक्ष के नीचे बैठे। हवा के झोंका

से अकस्मात् ताल का पका फल नीचे बैठे बालक के सिर पर गिरा, उसकी तेज चोट मे बालक की वही मृत्यु हो गयी। यह देखकर बालिका बहुत जोर से रुदन करने लगी। अन्य युगलिये दौडे, उनके सामने बाल-मृत्यु एक अनहोनी घटना थी, क्योकि उस समय मे हर एक युगल पूरी आयु पाकर ही मृत्यु को प्राप्त होता था। रुदन करती हुई सुकुमार बाला को लेकर लोग ऋषभदेव के पास आये। ऋषभदेव ने लोगो को बदलते हुए काल का प्रभाव समझाया, बाला को धीरज बँधाया। उसका युगल (जोडी) बिछुड गया था, अब वह किसके साथ रहेगी, यही चिन्ता सब को थी। ऋषभदेव के कोमल हृदय से बालिका का दु ख नही देखा गया। उन्होने अब तक चली आती परम्परा को तोडकर बालिका को आश्वासन दिया—"अवस्था आने पर मैं इसे अवश्य अपनी जीवन-सगिनी बनाऊंगा।"

समय पर ऋषभदेव ने उस कन्या के साथ विवाह किया। उसका नाम था सुनन्दा। एक दूसरी कन्या जो ऋषभदेव की सहजात थी—सुमगला। युगलिक परम्परा के अनुसार उसके साथ भी ऋषभदेव का विवाह हुआ। सुनन्दा ने महापराक्रमी बाहुबली और सुन्दरी को जन्म दिया। सुमगला के चक्रवर्ती भरत, ब्राह्मी तथा अन्य अठानवें पुत्र हुए।

इस तरह ऋषभदेव ने विवाह की पुरानी परिपाटी के पालन के साथ नई परम्परा का भी श्री गणेश किया।

नाभि राजा ने अपने राज्य की समस्त बागडोर ऋषभदेव के हाथो में सौप दी और स्वय शान्ति लाभ लेने लगे।

नव निर्माण

ऋषभदेव के जन्म के समय मानव सभ्यता विकास के पहले दौर से गुजर रही थी। मनुष्य को न खेती-बाड़ी करना आता था, न कोई उद्योग-धन्धा। वह प्रकृति की गोद में उसी द्वारा प्रदत्त साधनों पर जी रहा था। कन्द मूल, फल फूल खाना, झरनों का बहता निर्मल पानी पीना, वृक्षों की छाल से ही तन को ढकना और प्राकृतिक छाया में—वृक्षों और गुफाओं आदि में निवास करना—बस, यही था उस समय का संसार। स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा होता, साथ-साथ रहता, एक संतान को जन्म देकर साथ-साथ ही संसार से विदा हो जाता। न उनमें ज्यादा मोह होता, न ज्यादा विकार और न अधिक संग्रह की भावना। मनुष्य का जीवन प्रकृति-सा ही सरल, संतोषी और सीधा-सादा था।

धीरे-धीरे प्रकृति की सम्पदा कम होने लगी और जनसंख्या बढ़ने लगी। मनुष्य में विकार, संग्रह और रोष आदि की भावनाएँ पैदा होने लगीं। अभाव में स्वभाव बिगड़ जाता है इस उक्ति के अनुसार युगलिक सभ्यता के मनुष्य अब परस्पर झगड़ने लगे। ऋषभदेव अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न राजा थे, इसलिये लोग उनके पास शिकायत लेकर आते। प्रजा के आपसी झगड़ों को देखकर ऋषभदेव ने उसका मूल कारण पकड़ा—साधनों का अभाव होने से ही यह सब आपाधापी है। इस कारण ऋषभदेव ने प्रजा से कहा—तुम लोग हल लेकर

जमीन को जोतो और उसमें बीज डालो।" ऋषभदेव के कहे अनुसार लोगों ने खेती शुरू की। ऋषभदेव खेती व उद्योग की एक-एक बात लोगों समझाते और उनका मार्गदर्शन करते।

समय पर खेतों में धान के हरे-भरे पौधे लहलहाने लगे तो उन्हें देखकर लोग खुशी से नाच उठे। वे धान को योंही खाने लगे, तो पेट मे दर्द खड़ा हुआ। लोग मारे दर्द के तड़फते ऋषभदेव के पास आये—महाराज! आपका धान खाया तो पेट मे दर्द करने लगा है, बहुत कष्ट हो रहा है।

ऋषभदेव ने अन्न निकालना सिखाया, फिर अग्नि जलाकर अन्न को पकाना सिखाया। सर्वप्रथम अग्नि की प्रज्वलित ज्योति देखकर लोग बहुत ही चकित हुये। उससे अन्न आदि पकता देखकर श्रद्धावश उसे भी नमस्कार कर 'अग्निदेव!' पुकारने लगे।

अब खेतिहर लोगों के पास अन्न के भण्डार भरने लगे, ऋषभदेव ने उन्हें व्यापार विनिमय की विधि सिखाकर समाज में सर्वत्र सम-वितरण की व्यवस्था दी। समाज में कुछ आलसी, निठल्ले और पेटू लोग भी थे जो मेहनत से जी चुराते और दूसरों का माल हड़पने की चेष्टा करते, लोग उनके आतंक व भय से डरकर ऋषभदेव के पास पुकार लेकर आये। ऋषभदेव ने कुछ बलवान लोगों को उन तस्करों व आतंकवादियों से समाज की सुरक्षा करने का तरीका सिखाया, उनके हाथ में तलवार सौंपी। इस प्रकार अपने आप तीन वर्ग—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र

नव निर्माण

ऋषभदेव के जन्म के समय मानव सभ्यता विकास के पहले दौर से गुजर रही थी। मनुष्य को न खेती-बाडी करना आता था, न कोई उद्योग-धन्धा। वह प्रकृति की गोद मे उसी द्वारा प्रदत्त साधनो पर जी रहा था। कन्द मूल, फल फूल खाना, झरनो का वहता निर्मल पानी पीना, वस्त्रो की छाल से ही तन को ढकना और प्राकृतिक छाया मे—वृक्षो और गुफाओ आदि मे निवास करना—बस, यही था उस समय का ससार। स्त्री-पुरुष का एक जोडा होता, साथ-साथ रहता, एक सतान को जन्म देकर साथ-साथ ही ससार मे विदा हो जाता। न उनमे ज्यादा मोह होता, न ज्यादा विकार और न अधिक सग्रह की भावना। मनुष्य का जीवन प्रकृति-सा ही सरल, सन्तोषी और सीधा-सादा था।

धीरे-धीरे प्रकृति की सम्पदा कम होने लगी और जनसख्या बढने लगी। मनुष्य मे विकार, सग्रह और क्रोध आदि की भावनाएँ प्रवल होने लगी। अभाव मे स्वभाव विगड जाता है इस उक्ति के अनुसार युगलिक सभ्यता के मनुष्य अब परस्पर झगडने लगे। ऋषभदेव अनूठी प्रतिभा सम्पन्न राजा थे, इसलिये लोग उनके पास शिकायत लेकर आते। प्रजा के आपसी झगडो को देखकर ऋषभदेव ने उनका मूल कारण पकडा—साधनो का अभाव होने से ही यह सब आपाधापी है। इस कारण ऋषभदेव ने लोगो से कहा—तुम लोग हल लेकर

जमीन को जोतो और उसमें बीज डालो।" ऋषभदेव के कहे अनुसार लोगो ने खेती शुरू की। ऋषभदेव खेती व उद्योग की एक-एक बात लोगो समझाते और उनका मार्गदर्शन करते।

समय पर खेतो मे धान के हरे-भरे पौधे लहलहाने लगे तो उन्हे देखकर लोग खुशी से नाच उठे। वे धान को योही खाने लगे, तो पेट मे दर्द खडा हुआ। लोग मारे दर्द के तडफते ऋषभदेव के पास आये—महाराज! आपका धान खाया तो पेट मे दर्द करने लगा है, बहुत कष्ट हो रहा है।

ऋषभदेव ने अन्न निकालना सिखाया, फिर अग्नि जलाकर अन्न को पकाना सिखाया। सर्वप्रथम अग्नि की प्रज्वलित ज्योति देखकर लोग बहुत ही चकित हुये। उससे अन्न आदि पकता देखकर श्रद्धावश उसे भी नमस्कार कर 'अग्निदेव!' पुकारने लगे।

अब खेतिहर लोगो के पास अन्न के भण्डार भरने लगे, ऋषभदेव ने उन्हे व्यापार विनिमय की विधि सिखाकर समाज मे सर्वत्र सम-वितरण की व्यवस्था दी। समाज मे कुछ आलसी, निठल्ले और पेटू लोग भी थे जो मेहनत मे जी चुराते और दूसरो का माल हडपने की चेष्टा करते, लोग उनके आतक व भय से डरकर ऋषभदेव के पास पुकार लेकर आये। ऋषभदेव ने कुछ बलवान लोगो को उन तस्करो व आतकवादियो से समाज की सुरक्षा करने का तरीका सिखाया, उनके हाथ मे तलवार सौंपी। इस प्रकार अपने आप तीन वर्ग—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र

बन गये और वे अपने-अपने उत्तरदायित्वों का कार्य सम्भालने लगे ।

खेती-उद्योग के साथ समाज को शिक्षा की भी बहुत आवश्यकता थी । ऋषभदेव ने यह कार्य अपनी पुत्रियों को सौंपा ब्राह्मी और सुन्दरी को उन्होंने शिक्षा प्रचार के लिए तैयार किया ब्राह्मी को लिपिज्ञान (अक्षरज्ञान) सिखाया और सुन्दरी को अंक विद्या (गणित) की शिक्षा दी । स्त्रियों की चौसठ कलाएं भी उनको सिखाईं और कहा—पुत्रियो ! तुम मनुष्यों को इन विद्याओं का ज्ञान दो, समाज को शिक्षित बनाओ ! शिक्षा के साथ सदाचार, विनय और कला एवं शिल्प का विकास करो ।"

इस प्रकार ऋषभदेव ने मनुष्य जाति के नव-निर्माण में अकथनीय योगदान किया । खेती, पशु पालन, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, कला और शासन आदि की समस्त विधियाँ प्रजा को सिखाईं, उसे समृद्धि और विकास की ओर गतिशील बनाया ।

ऋषभदेव ने संसार के सुख भोग स्वयं भी भोगे और लोगों को भोगने की कला भी सिखाई, पर वे कभी भोगों में फँसे नहीं । आसक्त नहीं बने । प्रजा का विकास करके उसके कल्याण की भावना उनमें मुख्य थी । प्रजा को सब सुख-समृद्धि की ओर बढ़ते देखकर उन्हें सन्तोष हो गया तो अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत और बाहुबलि आदि निन्यानवें पुत्रों को अपने पास बुलाया । पुत्रों को सम्बोधित करके ऋषभदेव बोले—"पुत्रो ! मैंने प्रजा के भौतिक विकास के लिए अब तक अथक परिश्रम

किया है, किंतु तुम्हे मालुम होना चाहिए यह विकास अधूरा है, अपूर्ण है। केवल भोग, सुख-समृद्धि ही हमारे जीवन का लक्ष्य नही है, किन्तु परम आत्म-शान्ति प्राप्त करना ही हमारा अन्तिम ध्येय है। इसके लिये काम, क्रोध, अहकार आदि अन्तरग विकारो का नाश करना आवश्यक है। इन विकारो को जीतने के लिये अब मैं योग मार्ग पर चलना चाहता हू। राज काज की सब जिम्मेदारी तुम लोगो पर है, मैं शान्ति के साथ तपस्या, मौन, ध्यान आदि करके ससार को आत्मकल्याण का मार्ग दिखाना चाहता हूँ। यह मार्ग मिलने पर ही सृष्टि का आध्यात्मिक विकास होगा।"

ससार त्याग

—०—

पुत्रो को सब तरह की शिक्षायें देकर ऋषभदेव ने भरत को अयोध्या, बाहुबली का तक्षशिला एव अन्य कुमारो को छोटे-छोटे राज्यो की सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंपी। ऋषभदेव का ससार त्याग कर योग मार्ग पर चलते देखकर अनेक राजा[1] उनके साथ ही दीक्षित हो गए। ऋषभदेव को अपने ध्येय का और अपने विधि-विधानरूप मार्ग का ज्ञान का था, वे मौन पूर्वक साधना के पथ पर बढते गये। किन्तु उनकी देखादेखी दीक्षित होने वाले अन्य मुमुक्षुओं को न मार्ग का ज्ञान था, न उनके सामने अन्तिम ध्येय था। वे उस कठिन मार्ग पर अधिक

---

१ चार हजार पुरुष साथ मे दीक्षित हुए।

दिन नही चल सके। कठोर तपस्या मे उनके चरण लडखड गये, कोई कन्दमूल खाकर साधना करने लगा, कोई अग्नि तापने लगे, और कोई कुछ। यो विवेक व ज्ञान के अभाव में ऋषभदेव के साथ दीक्षित होने वाले साधक इधर-उधर बिखर गये और विविध प्रकार के अज्ञान-तप मे उलझ गये।

ऋषभदेव कठोर तप के साथ मौन व्रत लेकर ध्यान आदि साधना करते रहे। वे कभी भिक्षा के लिए नगर में आते तो भोले नागरिक श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत सत्कार करने उमड पडते। कोई हाथी घोडे सजाकर भेंट करने आता, कोई सोना, मोती, हीरे-पन्ने आदि के थाल सजाकर लाता और कोई सुन्दर कुमारियो को भेंट देकर प्रभु ऋषभदेव को प्रसन्न करना चाहता। लोगों को यह कल्पना भी नही थी कि ऋषभदेव जैसे प्रतापी राजा को अन्न की भिक्षा भी देनी चाहिए कि नही। वे इसे तो अति तुच्छ भेंट समझकर प्रभु ऋषभदेव की गरिमा के अनुपयुक्त मान लेते और फिर अन्न भी ऐपणीक (साधु की भिक्षा के योग्य) हो, इसका तो किसी को ज्ञान भी नही था। भगवान ऋषभदेव लोगो की अज्ञान दशा को समझ रहे थे, फिर भी वे अपने सकल्प मे दृढ रहे। मौन खोलकर उन्होंने किसी को कुछ नही कहा और इस तरह लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक समय गुजर गया, भगवान ऋषभदेव कठोर मौन लिए तपस्या करते हुए जनपद मे विहार करते रहे।

प्रथम भिक्षा

—०—

प्रभु ऋषभदेव विहार करते-करते गजपुर नाम के एक नगर मे पहुँचे। वहाँ पर प्रभु ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का पौत्र श्रेयासकुमार राज्य कर रहा था। श्रेयास कुमार ने उसी रात को एक विचित्र स्वप्न देखा था कि "वह मेरु पर्वत को अमृत से सीच रहा है।" स्वप्न के अर्थ व फल पर विचार करता श्रेयास कुमार महलो के झरोखे मे बैठा था। इधर नगर मे प्रभु ऋषभदेव आये। उनके पीछे अपार जनसमूह चल रहा था। आगे बढ-बढकर लोग उन्हे भेंट-पूजा आदि देने की चेष्टा कर रहे थे, किन्तु प्रभु मौन लिए आगे चलते जा रहे थे, प्रभु को इस प्रकार आते देखते ही श्रेयास कुमार को लगा, सचमुच यह सुमेरु पर्वत ही मेरे गृह आगन की ओर आ रहा है। महलो से नीचे उतरकर वह प्रभु के चरणो मे पहुँचा। भावो की तन्मयता के कारण उसे जातिस्मरण ज्ञान भी हो गया। साधु को भिक्षा देने की विधि का उसे स्मरण हुआ। प्रभु मे प्रार्थना की—"भगवन्! मेरे गृह आँगन को पवित्र कीजिये! अभी ही ताजा इक्षुरस के कलश आये रखे हैं, आप इन्हे ग्रहण कीजिये।"

श्रेयास कुमार की प्रार्थना पर प्रभु ऋषभदेव राजमहल मे भिक्षा के लिए आये। वे तो कर-पात्री थे। दोनो हाथो को ओक बनाकर उन्होने रस ग्रहण किया। अत्यन्त भावना और भक्ति के साथ श्रेयासकुमार ने एक वर्ष के उपवासी प्रभु ऋषभदेव को पहली बार इक्षुरस का दान दिया। इस दिव्य

दान पर आकाश मण्डल देवदुंदुभियों से गूंज उठा । देवताओं ने जय-जयकार के साथ पुष्प, स्वर्ण रत्न आदि की पाँच दिव्य वृष्टियाँ की । इस दिव्य दान के कारण वैशाख मास की वह तिथि इक्षु तृतीया या 'अक्षय तृतीया' कहलाई ।

भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक शरीर के ममत्व से रहित होकर अन्तर्मुखी साधना करते रहे। न किसी से बोलना, न किसी के साथ रहना, एकान्त में ध्यान, चिन्तन एवं आत्म-अवलोकन में ही वे लीन रहते। प्रारम्भ से ही उनका कथन था—साधना के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, पुरुषार्थ करके ही पुरुष—महापुरुष और आत्मा-परमात्मा के पद तक पहुँच सकता है । इसी सिद्धान्त के अनुसार वे स्वयं भी चले और एक हजार वर्ष की साधना के बाद एक दिन वे जब परम शुक्लध्यान में लीन हो रहे थे तो सहसा सूर्य पर से जैसे बादलों का आवरण हटता है, वैसे ही आत्मा पर से घन-घाति कर्मों का आवरण हटा, प्रभु को लोकालोक प्रकाशी केवलज्ञान प्राप्त हुआ ।

जिस समय प्रभु को केवलज्ञान हुआ, उसी समय सम्राट भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न (जिसके बल पर चक्रवर्ती बना जाता है) और उनकी महारानी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। ये तीनों बधाईयाँ भरत को एक साथ मिलीं—भरत खुशी से नाच उठे। एक क्षण भर वे असमंजस में पड़ गये, पहले कौन सा उत्सव मनाये ? किन्तु बुद्धिशाली भरत ने तुरन्त ही निर्णय किया, भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न होना ही

सर्वोत्तम खुशी है, वही श्रेष्ठ उत्सव का विषय है, क्योंकि वह धर्म का फल है, चक्र की उत्पत्ति अर्थ का और पुत्र की उत्पत्ति काम का फल है। इसलिये धर्म के फल को ही मुख्यता देनी चाहिये। अर्थ और काम—केवल इस जन्म में खुशी देते है। धर्म तो जन्म-जन्मान्तरो मे भी सुख और शान्ति का देने वाला है। भरत ने प्रभु के केवलमहोत्सव की तैयारी करने का आदेश दिया और स्वयं खुशी में उछलते हुये अपनी दादी मरुदेवा के पास पहुँचे—"माताजी! लो बधाई! आप इतने दिन से कह रही थी कि मेरे लाडले ऋषभ का कोई अता-पता ही नही है, कहाँ है, कैसे दिन गुजार रहा है? लो, वे तो भगवान बन गये है, सर्वज्ञ तीर्थंकर बने है और अपने नगर के बाहर उद्यान मे पधार गये हैं, चलो, उनके दर्शनो को।"

भरत के मुह से समाचार सुनते ही वृद्ध मरुदेवा की नसो मे जैसे नया रक्त दौड गया। अग-अग पुलक उठा, रोम-रोम नाचने लग गया। अत्यधिक हर्ष-विह्वल होकर वह पुत्र के दर्शनो को चल पडी।

सम्राट भरत पूरे राजकीय समारोह के साथ भगवान का केवल महोत्सव करने निकले। माता मरुदेवा एक अलकृत हाथी पर आरुढ थी, पुत्र को देखने आँखे अकुला रही थी। भरत उनको भगवान ऋषभदेव की दिव्य विभूतियो का वर्णन सुना रहे थे, पर उन्हे कहाँ धीरज था! वह तो एकबार अपने लाडले ऋषभ को आँखो से देख लेना चाहती थी। जैसे ही

समवसरण के निकट वह पहुँची, सामने सिंहासन पर प्रभु को विराजमान देखा, असख्य देवी देवता उनके चरणो मे सिर झुका रहे है स्वर्ग के इन्द्र प्रभु की अर्चा-पूजा करने होड लगा रहे है और अपार दिव्य विभूतियो से परिवृत ऋषभदेव अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर बैठे देशना कर रहे है—यह दृश्य देखते-देखते मरुदेवा की आँखें छलछला उठी। हर्ष हृदय मे समा नही रहा था, मुह से शब्द निकल नही रहा था।

क्षणभर बाद मरुदेवा का चिन्तन प्रवाह बदल गया ऋषभदेव का प्रगाढ स्नेह अब भक्ति के स्रोत मे बदल गया और फिर भक्ति का स्रोत भी विरक्ति (वैराग्य) की ओर मुड गया। मरुदेवा—उज्ज्वल शुक्ल-ध्यान मे लीन हुई और कुछ क्षणो मे ही कर्मावरण का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त बन गई।

समवसरण मे विराजमान प्रभु ऋषभदेव ने देशना के बीच मे ही घोषणा की—"इस युग की सर्वप्रथम मुक्तिगामिनी मरुदेवा हस्ति स्कध पर बैठे-बैठे ही सिद्ध भगवती बन गई है।"

तीर्थंकर बनने के बाद भगवान ऋषभदेव ने धर्मोपदेश करना प्रारम्भ किया। उस युग की जनता बडी सरल, भावनाशील और धर्मप्रेमी थी। भगवान के उपदेशो का सुनकर हजारो लाखो स्त्री-पुरुषो ने मुनिव्रत ग्रहण किया, लाखो ही व्रतधारी श्रावक बने।

प्रभु ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत जब चक्रवर्ती बने, छह खण्ड पर विजय करके वापस अयोध्या लौटे तो उन्होंने बाहु-

वली आदि अपने बन्धुओं को भी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। बाहुबली ने तो भरत को चुनौती दी। युद्ध के लिये ललकारा और उस युद्ध मे विजयी बनकर भी राज्य श्री को ठुकरा दी। आखिर साधु बन जगलो मे तपस्या करने चले गये। किन्तु जो अन्य अठानवें भाई थे, वे भाई के साथ झगडना भी नही चाहते थे, और कायर की तरह उनको अधीनता स्वीकार करने मे भी उनके पुरुषार्थ को लाज आती थी। वे मार्ग दर्शन लेने के लिए वे लिए भगवान ऋषभदेव के पास पहुँचे। बोले—"पिताजी! आपने जो राज्य हमे सौंपा था, वह भाई भरत हडपना चाहता है, अब हम क्या करें ?"

प्रभु ने चिंतन करके कहा—समार की यह शाश्वत रीति है कि बडी मछली छोटी मछली को निगलती है, जो अधिक बलशाली होता है, वह अल्प बल वालो पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। भरत चक्रवर्ती है, सहज ही वह बन्धुता के सम्बन्ध को ताक मे रखकर अपनी सत्ता तुम पर थोपना चाहेगा—यह मनुष्य का पद-दर्प होता है, इसे रोक पाना कठिन है। सत्ता के मोह मे या ससार के सुख भोग की तृष्णा मे फसकर तुम कायर की भाँति उसकी अधीनता स्वीकार करो—यह तुम्हारे लिए उचित नही है।"

पुत्रो ने बीच ही मे विक्षुब्ध होकर कहा—"तो, फिर पिताजी! हम क्या करें? कुछ क्षण रुक कर फिर बोले—"जो आप कहेंगे वही हम करेंगे।"

प्रभु ने पुन गम्भीर वाणी मे पूछा—"तुम लोग विजय पाना चाहते हो ?"

"हा, हा, हम विजयी बनना ही चाहते हैं"—सभी पुत्र एक स्वर मे बोले।

"तो भरत को विजय करने का विचार छोड दो, अपने आप पर विजय प्राप्त करो। जो अपनी आत्मा को, अपने विकारो को जीत लेता है, अपनी तृष्णा और मोह को परास्त कर देता है, वही सच्चा विजेता है पुत्रो! तुम चाहो तो ऐसे अमोघविजय का मार्ग मैं तुम्हे बताऊँ ?" प्रभु की अन्तर्भेदी वाणी ने सभी राजकुमारो का हृदय बदल दिया, वे जमकर प्रभु के चरणो मे बैठ गये और उपदेश सुनने लगे।

काम-भोगो की असारता शरीर की नश्वरता और जीवन की महत्ता बताने के बाद भगवान ने तृष्णा की विडम्बना पर विवेचन करते हुए कहा—वत्स! जो तृष्णा स्वर्ग के अमीम सुखो और इन्द्र के अपार साम्राज्य का भोग करके भी तृप्त नही हुई वह मानव जीवन के इन नश्वर और तुच्छ भोगो से कैसे तृप्त होगी ? सुनो—एक रूपक सुनाता हूँ—एक लकडहारा था, विचारा दरिद्र तो था ही किन्तु कोढ मे खुजली की भाति वह मूर्खता का भी शिकार था। वह जगल की लकडियो से कोयला बनाकर बेचता और कौडी-कौडी जोडकर अपना पेट भरता। एक बार भयकर गर्मी का मौसम था, वह अपनी छोटी-सी दीवड मे थोडा-सा पानी लेकर गया।

कोयला बनाने के लिए सूखी लकडिया को एकत्र कर उनमे आग लगा दी। पहले ही गर्म लू चल रही थी, फिर अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओ मे और अधिक गर्मी हो गई, उसे प्यास लगी, पास का पानी सब पी गया, फिर भी प्यास नही बुझी। थोडी देर मे और जोर की प्यास लगी, गला सूखने लगा तो चारो ओर पानी की खोज की, पर कही भी एक बूद पानी उसे नही मिला। प्यास के मारे उसके होठो पर पपडी जम गई, थूक सूख गया, वह घबराता हुआ किसी वृक्ष की शीतल छाया मे जाकर लेट गया। कुछ नीद की झपकी लगी तो उसे स्वप्न आया। "वह अपने घर पहुँच गया है, घर मे जितना पानी था सब पी गया, पर प्यास नही बुझी, गाव के कुएँ पर गया, वहाँ का भी सब पानी पी गया, फिर भी प्यास से गला सूख रहा है। नदी, नाले और सरोवरो का पानी पीता हुआ वह अबूझ प्यास लिये समुद्र के किनारे चला गया, वहा भी पानी-पानी कर रहा है। समुद्र का अथाह पानी पी जाने पर भी उसकी प्यास नही बुझी, गला तो सूखता ही जा रहा है। अब वह चारो ओर दौडता-भागता पागल की तरह पानी-पानी पुकारता हुआ आखिर मे एक पुराने सूखे कूए के पास पहुँचा। कूए का पानी तो कब का ही सूख गया था, किन्तु उसके किनारे कुछ भीगा घास-पुआल पडा था। मारे प्यास के वह उन घास के तिनको को ही निचोड-निचोड कर अपनी प्यास बुझाने की चेष्टा करने लगा, इतने मे ही उसकी नीद खुल गई। वह देखता है, उसी जगल मे वृक्ष के नीचे पडा हुआ वह पानी-पानी करता है।

इस रूपक का रहस्य समझाते हुए भगवान ने पुत्रों को सम्बोधित कर कहा—"पुत्रो! जब पेट मे दाह लगी हो, गला सूख रहा हो, उस समय स्वप्न मे पानी पीने से क्या किसी की प्यास बुझती है ?"

"नही! प्रभु! स्वप्न के पानी से कभी भी प्यास नहीं बुझ सकती!"—पुत्रो ने एक स्वर से कहा।

"और जो प्यास सरोवरो और सागरो से भी तृप्त नहीं हुई, क्या वह गीले घास को निचोडकर उसकी दो-चार बूद पी लेने से भी तृप्त हो सकती है ? नही! पुत्रो! इसी प्रकार ससार मे तृष्णा की यह विडम्बना है। तृष्णा की दाह मन में लगी है, और मनुष्य शारीरिक काम भोगो से उसे तृप्त करना चाहे तो कैसे होगी! जब तक मन शान्त नही होता, तृष्णा की ज्वाला नही बुझती, काम भोगो की कामना करते रहने से वह कभी तृप्त नही होती, और फिर ये मानवीय काम-भोग भी कितने तुच्छ हैं ? देवताओ के दीर्घकालीन दिव्य काम भोगो से भी जिस आत्मा को भोगो से तृप्ति नही हुई, उसे मानवीय तुच्छ, क्षणिक और घृणोत्पादक काम भोगो से तृप्ति की आशा करना—तिनको से प्यास बुझाना नही है ?"

प्रभु ने उपदेश देकर पुत्रो की गम्भीर मुद्रा की ओर देखा, सभी भाई चिन्तनलीन थे, वैराग्य की हिलोरो मे भीग रहे थे। राज्य और वैभव-भोग की तृष्णा उनके हृदय से मिट गई। सभी एक साथ बोले—"प्रभो! हम भी आपके पद चिह्नो पर चलना चाहते हैं। भाई भरत राज्य चाहते हैं तो वे खुशी से

लेवें। हमे इस राज्य से कोई लोभ-लगाव नही रहा, हम अपनी आत्मा का विकास कर परम पद पाना चाहते है।"

इस प्रकार प्रभु के उपदेश से अठानवें भाइयों ने अपना राज्य भाई भरत के लिए छोडकर ससार त्याग कर साधना का पथ अपनाया।

प्रभु ऋषभदेव ने हजारो ही देशनाएँ और प्रवचन दिये। पर उनका पुत्रो को दिया गया यह प्रबोध-प्रवचन जैन सूत्रो व टीकाओ मे आज भी उट्टकित है।

प्रभु ऋषभदेव के उपदेश से प्रभावित हो, हजारो लाखो नर-नारियो ने त्याग मार्ग पर कदम बढाये, हजारो राजकुमार और राजा लोग भी सयम की कठोर साधना करने प्रभु के पद-चिह्नो पर चल पडे। प्रभु ऋषभदेव की दोनो पुत्रियाँ—ब्राह्मी और सुन्दरी भी दीक्षित हुई, उनके साथ भी अनेक हजार नारियाँ साध्वी बनकर त्यागमय जीवन बिताने लगी।

भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थो के लिए भी साधना का मध्यम मार्ग बताया। उन्होने कहा—"यदि तुम सम्पूर्ण काम भोग एक साथ नही छोड सकते हो तो यथाशक्ति ही छोडो, उनकी लालसा कम करो।" भगवान का सबसे अधिक बल 'अनासक्ति' पर था।' उनका उपदेश था—जिस प्रकार कमल जल मे रहता हुआ भी उससे लिप्त नही होता, उसी प्रकार तुम ससार और उसके विषयो के बीच रहते हुए भी उनकी वासना से लिप्त मत बनो। बहिरात्म भाव मे रहकर भी

'आत्मभाव' को भूलो मत !" उनके इन उपदेशो पर साक्षात आचरण करने वालो मे चक्रवर्ती भरत प्रमुख थे। वे छहखड का राज्य करते हुए भी राज्य की और भोग वैभव की वासना से लिप्त नही थे। इसी कारण शीश महल मे बैठे-बैठे ही भरत ने राग द्वेष का क्षय कर डाला और केवली बन गये।

प्रभु ऋषभदेव अपने अन्तिम समय मे विहार करते हुए अष्टापद पर्वत की ओर चले गये। वही उन्होने अन्तिम समय मे उपवास एव ध्यान प्रारम्भ कर छह दिन के उपवास मे परम निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १, सर्ग १

□□

२

भगवान अजितनाथ

●सारिणी

जन्मस्थान	विनीता नगरी
पिता	जितशत्रु राजा
माता	विजयादेवी
जन्मतिथि	माघ सुदि ८
दिक्षा तिथि	माघ सुदी ६
कैवलज्ञान	पौष सुदि ११
शिष्य सम्पदा	एक लाख श्रमण तीन लाख तीस हजार श्रमणी
चिह्न	हाथी
निर्वाण	चैत्र सुदि ५

बहुत समय पूर्व विमलवाहन नाम का एक राजा था। युद्ध क्षेत्र मे उस राजा की शौर्य एव वीरता की जितनी कीर्ति थी, धर्म क्षेत्र मे उससे भी बढकर उसके दान और प्रभु भक्ति की ख्याति थी। दूर-दूर के देशो मे उसके विषय मे प्रसिद्ध था—

एक ही साथ—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर का रूप देखना हो तो कोई विमलवाहन को देखें।

राजा विमलवाहन ने यौवन में न्याय के साथ प्रजा का पालन किया, और बुढापा आने के पहले ही राज्य सत्ता अपने पुत्रों के हाथों में सौंपकर तपस्या करने के लिए अनगार बन गया। मुनि जीवन में उसने बड़ी कठोर तपस्याये की, विभिन्न प्रकार के तप और अभिग्रह करके अनेक लब्धियाँ प्राप्त की। अपने दिव्य तपोबल से ही उसने इस जन्म में तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

विमलवाहन मुनि देह त्यागकर स्वर्ग में अहमिन्द्र देव बने, और बाद में विनीता नगरी के जितशत्रु राजा के घर में अजित राजकुमार के रूप में जन्म धारण भी किया।

अजितकुमार जब गर्भ में थे, तो उनकी माता विजयादेवी ने चौदह महान स्वप्न देखे थे। राजा ने जब स्वप्न पाठक सामुद्रिकों से इन स्वप्नों का भावी फल पूछा तो समूचे राज परिवार की खुशियों का कोई ठिकाना नहीं रहा। सामुद्रिक ने बताया—"ऐसे महान स्वप्न किसी तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माता ही देखती है।"

और तब तो राजा की खुशियों में और भी ज्वार आ गया जब सुना कि उसी रात लघुबन्धु सुमित्र की रानी ने भी ऐसे ही चौदह महास्वप्न देखे हैं। एक आकाश में दो सूर्य भले ही न उगे हो, किन्तु राजा को यह तो लगा—उसके वंश रूपी गगन

मे एक साथ ही सूय-चन्द्र की अद्‌भुत जोडी अवश्य ही अपनी अलौकिक प्रभा बिखेरेगी।

समय पर विजयादेवी ने अपूर्व तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। समूची सृष्टि एक वार प्रकाश से जगमगा उठी। गगन व भूमण्डल आनन्द मे नाच उठे। मानव ही क्या, किन्तु असस्य देवता भी फूल वर्षाकर, नाच-गान करके उस महाभाग्यशाली कुमार का जन्म महोत्सव मनाने लगे।

सफलता, समृद्धि और ऐश्वर्य तो अजितनाथ के चरणो मे लौटता था। किन्तु फिर भी प्रभु के मन मे उनके प्रति कुछ भी आकर्षण नही था। यहाँ तक कि जव राजा जितशत्रु वृद्ध हुए, अपना भार उतारकर सयम लेने का तत्पर हुए तो उन्होने कुमार से राज्य सत्ता सम्भालने का आग्रह किया। सत्ता से उदासीन कुमार ने कहा—"पिताजी! मुझे इस वन्धन में क्यो जकड रहे हैं? मेरे चाचा (सुमित्र) सव प्रकार से योग्य हैं, उन्हे ही यह भार सौंपिये, मैं तो इसे एक ववाल समझता हूँ।" किन्तु सुमित्र ने भी राज्य सम्भालने से इन्कार कर दिया। आखिर माता-पिता व चाचा आदिके आग्रह का सम्मान करके श्री अजितनाथ ने राज्य पद स्वीकार किया।

राज्य के उत्तरदायित्वो को सुचार रूप से निभाते हुए भी श्री अजितनाथ स्वय को राज्य भार से अलग ही रखते रहे। धीरे-धीरे छोटा भाई सगर (सुमित्र का पुत्र दूसरा चक्रवर्ती) सव प्रकार से योग्य हुआ, तो श्री अजितनाथ ने विनीता के

शासन सूत्र की बागडोर उसके हाथो थमादी और स्वय एक हजार पुरुषो के साथ साधना पथ पर चल पडे ।

बारह वर्ष तक श्री अजितनाथ छद्मस्थ दशा मे रहकर तप आदि की भावना करते रहे । निष्ठावान साधक सिद्धि के द्वार पर पहुँचता ही है । प्रभु अजितनाथ भी सिद्धि के द्वार पर पहुँचे । केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर वे अरिहत (कर्म शत्रुओ के हता) बने । अरिहत के बारह गुण उनमे प्रगट हुए, समवसरण की रचना हुई । प्रभु ने दिव्य देशना दी, प्रभु की वाणी अलौकिक विशेषताओ (३५ वचनातिशय) से सम्पन्न होती है, जो भी प्राणी उसे सुनता है, उसका मन-मस्तिष्क श्रद्धा से झुक जाता है । यद्यपि उपदेश सुनने वाले सभी दीक्षा नही ले सकते, किन्तु फिर भी हजारो व्यक्ति उस वाणी से प्रेरित हो ससार के भोग ऐश्वर्य को लात मारकर प्रव्रजित होते हैं । प्रभु अजितनाथ की देशना सुन लाखो-स्त्री-पुरुषो ने दीक्षा ग्रहण की यह उनकी वाणी का एक अमोघ चमत्कार ही समझना चाहिए ।

प्रभु अजितनाथ ने अन्तिम समय निकट देखकर सम्मेतशिखर की ओर प्रस्थान किया । शिखर पर आरोहण कर शैल की भाति ही अविचल ध्यान मुद्रा लगाकर प्रभु स्थिर हो गये, और उसी स्थिर मुद्रा मे देह त्याग कर विदेह सिद्ध बन गये ।

— त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र २/१

□□

३

भगवान संभव नाथ

●सारिणी

जन्मस्थान	श्रावस्ती नगरी
पिता	जितारि राजा
माता	सेना देवी
जन्मतिथि	मृगसर शुक्ला १४
दीक्षा तिथि	मृगसर पूर्णिमा
केवलज्ञान	कार्तिक वदि ५
शिष्यसम्पदा	दो लाख श्रमण तीन लाख छत्तीस हजार श्रमणियां
चिह्न	अश्व
निर्वाण	सम्मेत शिखर पर चैत्र शुक्ला ५

सेवा मनुष्य को महान बनाती है, इसका एक स्पष्ट उदाहरण है तीर्थंकर सम्भवनाथ का पूर्व जीवन।

क्षेमपुरी नगरी में विपुलवाहन नाम का राजा था। वह

बड़ा ही न्यायी और प्रजावत्सल था । माली जैसे बगीचे के छोटे-मोटे पौधों को अपनी सन्तान की तरह पालता है, वैसे ही विपुलवाहन राजा अपनी सम्पूर्ण प्रजा का पालन-पोषण करता था। उस राजा के राज्य में प्रजा बड़ी सुख और शान्ति के साथ रहती थी।

एक बार उस राज्य में वर्षा नहीं हुई। काले-काले बादल उमड़-घुमड़ कर आते और बिना बरसे ही चले जाते। लोग आकाश की ओर टकटकी लगाये गुनगुनाते रहते—"काले बदरवा बरस ! बरस !" पर आकाश इतना निष्ठुर हो गया कि एक बूंद पानी भी उस राज्य में नहीं गिरा। नदी, नाले, तालाब सब सूख गये। खेत बंजर पड़े रहे। पशु जंगलों में भूखे प्यासे भटकते और मनुष्य भी धान्य के अभाव में कंद मूल और वृक्षों की छाल खाकर दिन गुजारने लगे। बड़े-बड़े धनपति, जिनके भंडारों में अगणित हीरे-मोती भरे पड़े थे, वे भी दाने-दाने के लिए इधर-उधर भटकने लगे। अकाल की भीषण ज्वाला में पूरा राज्य जलने लगा।

राजा ने हजारों उपाय किये, पर किसी भी प्रकार दुष्काल की भीषणता कम नहीं हुई। भूख से तड़प-तड़प कर मनुष्य कीड़े-मकोड़े की तरह मरने लगे। राजा से यह नहीं देखा गया। उसकी आत्मा विलख उठी। उसने भूखी प्रजा के लिए अपने समस्त अन्न भंडार खोल दिये। बड़े-बड़े सेठ साहूकार भी यहाँ आकर भिखारियों की तरह अन्न की याचना करते।

इस स्थिति से सबसे भयकर विपत्ति आई उस राज्य मे विहार करने वाले श्रमणो और त्यागी गृहस्थो पर। वे अन्न सत्रो मे जाकर भिखारियो की भाति अन्न की याचना नही कर सकते थे और लोगो को ही जब भर पेट अन्न नही मिलता, तो साधुओ को भिक्षा भी कौन देता !

एक दिन सहसा राजा ने श्रमणो की यह विपत्ति देखी। लम्बे उपवास के कारण वे अत्यन्त दुबल और क्षीण हो रहे थे। सहसा राजा उनके चरणो मे गया और प्राथना की,—'भगवन्! मेरी भूल क्षमा हो, इस कठिन दुष्काल के समय मे आप श्रमण त्यागी मुनि सबसे भयकर विपत्ति झेल रहे है, प्रभो! आप मेरी भोजनशाला मे पधारिये और मेरे लिए तैयार हुए भोजन मे से भिक्षा ग्रहण कीजिये।" इतना ही नही, राजा ने श्रमणो के साथ समस्त त्यागी गृहस्थवर्ग को व श्रीसघ को भी अपनी भोजनशाला मे भोजन आदि लेने के लिए निमन्त्रित किया।

राजा के आग्रह पर श्रमण-श्रमणी उसके भोजन मे से भिक्षा लेने जाते। राजा ने अपने रसोइये को आदेश दे दिया—"जो भोजन मेरे लिए तैयार होता है, उसमे से जो कोई श्रमण आये पहले उन्हे भिक्षा दिया करो, श्रमणोका भिक्षा देने के वाद जो कुछ वचेगा, उसी मे से मैं अपना गुजारा करूँगा" श्रावको आदि समस्त श्री सघ के लिए भी राजा ने अपनी भोजनशाला मे भोजन की व्यवस्था करदी।

श्रमणो के भिक्षा लेने के वाद राजा भोजन करता। वह

कभी आधे पेट ही रहता, कभी बहुत ही भूखा, पर इस भूख में भी उसे अपूर्व आनन्द अनुभव होता। अपने भोजन से त्यागी श्रमणों और सहधर्मिगृहस्थों को भोजन कर तृप्त हुआ देख कर राजा का हृदय प्रसन्नता में झूम उठता। राजा के सेवक जब उससे प्रार्थना करते—'महाराज! आप श्रमणों को भिक्षा तो भले ही दीजिये, पर स्वयं तो भूखे मत रहिए। आपके लिए अन्न की कोई कमी नही है, आप भरपेट भोजन किया कीजिए।"

राजा हँसकर उन्हें उत्तर देता—"राज्य भंडार का अन्न मेरे लिये नही, मेरी भूखी प्रजा के लिये है। यदि मैं पेटभर कर मेवा मिष्टान्न खाता रहूँगा तो न तो मुझे श्रमणों के दान का कुछ फल मिलेगा, और न ही भूखी प्रजा की पीडा का कुछ अनुभव ही होगा। प्रजा के साथ मुझे भी दुर्भिक्ष की पीडा का अनुभव तो लेना चाहिए।" राजा की इस असीम दयालुता, और जन सेवा की उत्कट भावना को देखकर सब लोग चकित रह गये। अपनी अत्यन्त उदार निर्मल भावना और मुनि, श्रमणों एवं संघ की सेवा (वैयावृत्य) की उत्कृष्ट भाव शुद्धि के कारण विपुलवाहन राजा ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

कुछ दिनों बाद राज्य में खूब वर्षा हुई। दुर्भिक्ष का संकट दूर हुआ। खेत धान्य से लहरा उठे। नदी नाले सरोवर पानी से लबालब भर गये। सम्पूर्ण राज्य में पुन पहले जैसा ही अमन-चैन होगया।

विपुलवाहन भी वृद्ध हो चुका था, उसने राज्य भार अपने पुत्र को सौंपकर स्वय दीक्षा ली और तपस्या एव ध्यान साधना करने लगा।

सुदीर्घ तप साधना के बाद मुनि विपुलवाहन आयुष्य पूर्ण कर आनत नामक स्वग मे गये।

स्वग से च्यवन कर श्रावस्ती नगरी में जितारि राजा के पुत्र हुए। पुत्र के जन्म समय मे सम्पूण राज्य मे धान्य आदि की समृद्धि (सभूति) बढने लगी। राजा को असम्भव प्रतीत होने वाले अनेक कार्य स्वत ही समव (सिद्ध) होने लगे, इस कारण माता-पिता ने इस पुत्र का नामकरण किया—'सम्भव कुमार'।

सभव कुमार बडे तेजस्वी, प्रतापी और होनहार थे। युवावस्था आने पर राजा ने अनेक सुन्दर राजकन्याओ के साथ उसका विवाह किया। फिर अपना सम्पूर्ण राज्य सौपकर स्वय साधु बनकर साधना करने लगा। सभवकुमार अपार राज्य लक्ष्मी और भोग विलास की सामग्री प्राप्त करके भी उससे सदा अनासक्त और दूर रहे। यौवनवय मे ही उन्होने धन व ससार की अनित्यता का अनुभव कर अपने अपार स्वर्ण-माणिक्य आदि भडारो को गरीब जनता के लिए मुक्तहस्त से दान किया। फिर राज्य त्याग कर दीक्षा ली। चौदह वर्ष तक वे अनेक वन, उपवन, गिरि गुफा आदि एकान्त स्थानो मे रहकर मौनपूर्वक ध्यान साधना करते रहे। इस कठोर साधना के

फलस्वरूप चार घनघाती कर्मों का नाश किया, केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, हजारो लाखो नर-नारी और असख्य देवगण उनका उपदेश सुनने आये।

वह युग अत्यन्त शाति और समृद्धि का युग था। प्रजा मे भौतिक वस्तुओ का आकर्षण अधिक था, धर्म की, वैराग्य की बात यदा-कदा ही कोई सुनता था। प्रभु सम्भवनाथ ने अपनी प्रथम देशना मे ही जीवन के भोग-विलास मे भूले मनुष्यो को जीवन की नश्वरता, अनित्यता और भोगो की असारता का बोध कराया। उन्होने कहा—"ससार की समस्त वस्तुएं अनित्य है, यौवन, धन, शरीर, परिजन आदि समस्त वस्तुएं विनाशशील है, इस अनित्यता मे नित्यता का बोध करना ही दु ख का मूल है, नित्यता का आग्रह रखने वाला घर की छोटी सी दीवाल गिर जाने पर भी रोता है, सिर पीटता है, किन्तु वह यह नही जानता कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह नाश भी होगी। इसके विपरीत प्रत्येक वस्तु के विनश्वर धर्म को समझने वाला अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र ही क्या, स्वय का शरीर छूटने पर भी दुख, शोक और रुदन नही करता, क्योकि वह वस्तु के विनाशशील स्वभाव को जानता है। अत प्रत्येक भौतिक वस्तु को नश्वर, क्षणिक समझकर उसकी आसक्ति हटाओ, परिग्रह की ममता के बन्धन तोडो और शाश्वत सुखदायी आत्मधर्म का अवलबन लो।"

प्रभु के उपदेश मे हजारो नर-नारियो ने ससार त्याग कर

मुनिव्रत स्वीकार किया और हजारो ही गृहस्थो ने श्रावकव्रत ग्रहण किये। प्रभु सभवनाथ ने चार तीथ की स्थापना की। अनेक जनपदो मे धर्मोपदेश दिया और अन्त मे सम्मेत शिखर पर पादपोपगम अनशन मे देह त्याग कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग १,

□□

४

भगवान अभिनन्दन

● सारिणी

जन्मस्थान	अयोध्या नगरी
पिता	• संवर राजा
माता	सिद्धार्था
जन्मतिथि	माघ सुदि २
दीक्षा दिन	माघ सुदि १२
केवलज्ञान	पौष सुदि १४
शिष्य सम्पदा	तीन लाख श्रमण • छः लाख छत्तीस हजार श्रमणी।
चिह्न	कपि
निर्वाण	सम्मेतशिखर पर वैशाख सुदि ८

चौथे तीर्थंकर श्री अभिनन्दन स्वामी की आत्मा पूर्व जन्म में एक साधारण आत्मा थी। किन्तु कठोर तपश्चर्या, इन्द्रिय-दमन, और उत्कृष्ट क्षमा की दीर्घ साधना के द्वारा वे साधा-

रण आत्मा से महात्मा और फिर परमात्मा के पद तक पहुच गये।

बहुत समय पूर्व रत्नसचया नगरी मे एक महावल नाम का राजा हुआ। वह राजा वडा पराक्रमी था। अपने बाहुवल से उसने शत्रुओ का दमन कर सवत्र विजय ध्वजा फहरादी। एक वार एक आचार्य के उपदेश से राजा की अन्तर दृष्टि खुली। उसने सोचा—मैंने वाहुवल से बाहरी शत्रुओ को तो जीत लिया है, किन्तु वडे-वडे अजेय और भयकर हानि करने वाले ऐसे गुप्त शत्रु तो मेरे अन्तर मे छिपे हैं। क्रोध, काम आदि शत्रुओ के इशारे पर मैं नाच रहा हूँ। जव क्रोध का वेग आता है तो मैं अपना आपा भी भूल जाता हूँ, काम के वश होकर मैं तुच्छ दास की तरह स्त्रियो के हावभाव कटाक्ष पर नाच रहा हू, फिर मैं विजेता कैसा? जव तक मे इन शत्रुओ को नही जीत लू, मेरी विजय का सव दभ झूठा है।"—वस, इस अन्तर-मुखी चिन्तन ने राजा के भीतर ज्ञान का दीपक जला दिया, उसने अपने को खूव टटोला और फिर विकार शत्रुओ पर विजय पाने के लिए दृढ सकल्प कर आचार्य के पास साधु वन गया।

दीक्षा व्रत लेने के बाद मुनि महावल ने काम-क्रोध आदि पर विजय पाने का अभियान चालू कर दिया। जहाँ पर दुजन लोग उनकी निन्दा करते, उन्हे उपद्रव करते और पीडा एवं यातना देते—वे जानबूझ कर वही जाते और निंदा वचनो एव पीडाओ के वीच अपने को समभाव मे स्थिर रखने का प्रयत्न

करते। वे सुरम्य स्थलो को छोडकर सिंह, व्याघ्र आदि स सकुल अरण्य मे जाकर ध्यान करते। स्वादिष्ट मधुर भोजन को ग्रहण नही करते, किन्तु रूखा, वासी और अत्यन्त बेस्वाद भिक्षा की गवेषणा कर शरीर यात्रा चलाते। इस प्रकार महावल मुनि विपरीत स्थितियो मे, प्रतिकूल उपसर्गों मे अपने को दृढ, स्थिर एव समत्वलीन रखकर क्षमा एव वैराग्य की उत्कृष्ट तप साधना करते। दीर्घकाल तक इस प्रकार की उत्कृष्ट साधना करने मे उन्हे तीर्थंकर नाम कर्म की उपलब्धि हुई।

भौतिक देह का त्याग कर महावल की आत्मा महान ऋद्धिशाली देवयोनि मे गई और वहाँ से पुन अयोध्या नगरी मे मानव के रूप मे अवतार लिया।

अयोध्या मे उस समय इक्ष्वाकुवशी राजा सवर राज्य करते थे। उनकी रानी सिद्धार्था युग की परम सुन्दरी और महान शीलवती रानी थी। रानी की चन्द्रमा जैसी शीतल एव सौम्य मुख मुद्रा पर नील कमल जैसी आँखे, मोती से उज्ज्वल दाँत और प्रवाल से गुलाबी अधर—उसके सौन्दर्य को अद्वितीय बना रहे थे।

महावल की आत्मा रानी सिद्धार्था के गर्भ मे आई तो रानी ने चौदह प्रकार के महास्वप्न देखे। इन दिव्य स्वप्नो के आधार पर सबने यह समझा—कोई महान प्रभावशाली महापुरुष का जन्म होने वाला है। कल्पना सच निकली। रानी ने

अत्यन्त सुन्दर एव तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म मे समूचे राज्य मे हर्ष की हिलोरे उठ गई। पुत्र जन्म से प्रजा मे अत्यधिक हर्ष (अभिनन्दन) होने से राजा ने पुत्र का नाम-करण किया—अभिनन्दन ! अभिनन्दन कुमार का सौन्दय एव सुकुमारता देखकर मनुष्यो का ही नही, अपितु देवता और देवियो का भी हृदय ललक उठता और वे बालक अभिनन्दन के साथ बाल-रूप धारण कर क्रीडा करने लग जाते।

यौवन मे अभिनन्दन कुमार का अनेक सुन्दर राज-पुत्रियो के साथ पाणिग्रहण हुआ। यौवन वय ! सुन्दरता, सुकुमारता, अपार वैभव और परम सुन्दर रमणियाँ ! सब कुछ पाकर भी अभिनन्दन कुमार को हृदय मे रिक्तता और सूनापन-सा अनु-भव होता। उनका मन वैराग्य की ओर खिचा जा रहा था। आखिर वैराग्य की प्रबल लहर उठी ससार के भोग विलास, राज्य-सम्पत्ति सब का त्याग कर अभिनन्दन कुमार एक दिन 'अणगार अभिनन्दन' बन गये।

अभिनन्दन स्वामी ने जिस दिन दीक्षा ली उस दिन भी वे बेले की तपस्या मे थे। तीर्थंकरो की परिपाटी के अनुसार उनके दीक्षा महोत्सव मे अपार मानव मेदिनी के साथ असख्य देव गण भी महोत्सव मानने आये। एक हजार अन्य पुरुष भी उनके वैराग्य से प्रेरित होकर दीक्षित हुए।

श्री अभिनन्दन स्वामी दीक्षित होते ही मौनव्रत धारण कर कठोर तपस्या में जुट गये। अठारह वर्ष तक वे मौन के साथ अनेक प्रकार के उग्र तप, अभिग्रह, ध्यान आदि करते

आखिर एक दिन बेले की तपस्या मे वे किसी सहस्राम्रवन मे ध्यान कर रहे थे। मन परम समाधि की दशा मे प्रवेश कर उज्ज्वल शुक्ल ध्यान मे लीन हो रहा था। उसी समय अभिनन्दन स्वामी ने चार घाती कर्मों का क्षय किया। केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त हुआ। मनुष्यों और देवताओं ने मिलकर केवल महोत्सव मनाया। समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने वैराग्य उद्बोधिनी दिव्य देशना की। आचार्यों के मतानुसार इस देशना मे, ससार मे आत्मा की अशरण दशा पर विशेष विवेचन किया गया। प्रभु ने कहा—"आत्मा अकेला अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण करता है, सुख-दुख भोगता है। माता-पिता, स्वजन परिजन धन-वैभव कोई भी उसके कर्म विपाक को घटा नही सकते, उसके दु खो मे हिस्सेदार नही बन सकते, और मृत्यु के मुख में जाते हुए जीव को कोई भी बचा नही सकते।" प्रभु ने एक रूपक देकर समझाया—"एक जगल मे हरिणों के अनेक झुड रहते थे। एक बार उस जगल मे भयकर आग लग गई। चारो ओर से ज्वालाएँ धू धू कर जलने लगी। हरिणों के झुड सिर पर पाँव रखकर जान बचाते हुए भाग निकले। एक हरिणी ने उसी समय एक बच्चे का जन्म दिया। आग की लपटें नजदीक देखकर आँसू डालती बिलखती हरिणी भी बच्चे को छोडकर भाग गई। जान सबको प्यारी होती है। बिचारा हरिण का बच्चा असहाय उस दावानल मे अकेला पडा रहा। कोई भी उसे बचा नही सका, आग की दहकती लपटो से निकल नही सका।"

"यही स्थिति ससार मे आत्मा की है। परिवार स्वजन आदि सभी साथ मे सुख से रहते है। लेकिन जब रोग, जरा और मृत्यु का दावानल आत्मा को घेरता है तो कोई भी उसे बचा नही सकता, सभी अपनी-अपनी जान की रक्षा करते है और यह आत्मा जिन्हे अपना समझ बैठा था वे भी उसे असहाय छोड देते हैं। ससार मे प्रत्येक आत्मा की यही दशा है। उसका शरण, रक्षक और त्राता है तो सिर्फ एक धर्म है। जो धर्म का आचरण करता है, वह अपने का इन दु ख ज्वालाओ से बचा सकता है।"

प्रभु की अमृतोपम देशना से प्रबुद्ध होकर हजारो स्त्री-पुरुषो ने मुनिव्रत एव गृहस्थधर्म स्वीकार किया। चार तीर्थ की स्थापना कर अभिनन्दन स्वामी चौथे तीर्थंकर बने।

अभिनन्दन स्वामी ने दीर्घकाल तक धर्मोपदेश देकर ससार को भोग से त्याग मार्ग की ओर खीचा। अन्त मे समाधि दशा मे कर्मक्षय कर परम सुखो के केन्द्र मुक्ति धाम को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग २,

□□

है। पुत्र वधुएं इतनी विनीत और सेवा परायणा है कि वे प्रति क्षण सास की सेवा मे हाथ जोडे खडी रहती है। दासी की तरह ये सास का प्रत्येक कार्य अपने हाथ से करती है।"

कभी-कभी दूसरे का सुख मन मे ईर्ष्या जगा देता है रानी भी सेठानी के सौभाग्य म ईर्ष्या करने लगी, उसका मुख सहसा मलिन हो गया, आंखे फीकी पड गई और वह बीच ही मे उठकर राजमहल मे आकर शोक मे डूबकर सो गई।

राजा को रानी के बुरे हाल का पता लगा तो वह दौडकर महलो मे आया। कोमल प्रेम भरी वाणी मे आश्वासन देकर उसके दु ख का कारण पूछा। रानी ने गिडगिडाते हुए कहा—"मेरा स्त्री जन्म व्यर्थ गया।"

राजा ने आश्चर्य के साथ पुन पूछा—"देवी! क्या तुम्ह कोई कमी है ?"

रानी आंसू डालती हुई बोली—"सभी कमी है, जिस नारी ने पुत्र का मुह नहीं देखा उसने नारी जन्म लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाया। देखिये, आपके नगर सेठ की पत्नी, जिसके इतने आज्ञा-कारी पुत्र है, और पुत्रवधुएँ जो सचमुच नागकन्याओ की सुकुमार-सुन्दर है, अपनी सास की कितनी सेवा कर रही है, हाथो मे झुलाती है उसे। उसका नारी जीवन धन्य है, जिसने ऐसे पुत्र और पुत्रवधुएँ पायी है। मैंने सब कुछ पाकर भी क्या पाया ? मेरी गोद तो अभी तक सूनी है। यदि एक भी

पुत्र का मुह देख लेती तो मैं भी किसी की माँ और सास होने का गौरव अनुभव करती ।"

रानी की मनोव्यथा से राजा भी पीडित हो गया । पुत्र के लिए उसने अगणित यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र किये थे, पर "भाग्य मे नही लिखा दाना, तो क्या करेगा राना" की कहावत के अनुसार राजा कुछ भी कर नही सका । फिर भी राजा ने प्रयत्न करने का आश्वासन देकर रानी को प्रसन्न किया । पिछले सब प्रयत्न विफल हो जाने पर भी राजा निराश नही हुआ, उद्यम और यत्न की चावी से कभी-कभी भाग्य का ताला खुल जाता है, यह सोचकर राजा पुन पुत्रप्राप्ति के प्रयत्नो मे जुट गया । भाग्य का वृक्ष फला और रानी ने समय पर एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । स्वप्न मे सिंह दर्शन करने के कारण पुत्र का नाम 'पुरुषसिंह' रखा गया ।

पुरुषसिंह वहुत ही पराक्रमी राजकुमार था । यौवन मे ही युद्ध करके उसने अपने समस्त शत्रुओ को जीत लिया था ।

एक वार राजकुमार किसी उपवन मे घूम रहा था, वहाँ एक मुनि के दर्शन उसने किये । मुनि को देखकर कुमार ने पूछा—"आप का धर्म क्या है ? जगल मे यो अकेले खडे रहकर यह तप क्यो कर रहे है ?"

कुमार की जिज्ञासा देखकर मुनि ने उसे धर्म का तत्व समझाया । उसका मन प्रवुद्ध हो गया । दीक्षा की अनुमति लेने वह माता-पिता के पास गया तो सुनते ही माता तो मूर्च्छा

ग्वाकर गिर पडी। आखिर पुत्र का दृढ निश्चय देखकर माता पिता को अनुमति देनी ही पडी। पुरुषसिंह ने दीक्षा लेकर जीवन को तपस्या मे झोंक दिया। क्षमा, समता, निर्लोभता आदि धर्मो का आचरण करते हुए उसने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। आयुष्यपूर्ण कर वह ऋद्धिशाली देव बना और वहाँ से विनीता नगरी के राजा की मगला रानी के गर्भ में अवतरित हुआ।

भाग्यशाली पुत्र के उदर मे आने पर रानी मगला का तेज और बुद्धिबल निरन्तर बढने लगा।

एक बार राजा के सामने एक विचित्र मामला आया। दो स्त्रियाँ परस्पर झगडती हुई राज दरबार में आई। पहली स्त्री ने अपनी कहानी सुनाते हुए कहा—'महाराज ! मैं बहुत दुःखी हूँ, मेरा न्याय कीजिये ! हम दोनो अमुक सार्थवाह की पत्नी हैं। एक बार सार्थवाह हमें भी अपने साथ परदेश ले गया। वहाँ पर मैंने इस पुत्र को जन्म दिया। यह मेरी सौत (सपत्नी) है, इसके कोई पुत्र नही था, इसलिए मेरे पुत्र को ही इसने अपना पुत्र समझकर पाला, पोसा बडा किया। जितना स्नेह मैं पुत्र से करती थी, उतना ही यह भी करती थी, मेरे पुत्र को कभी भी यह मालुम नहीं हुआ कि यह उसकी असली माँ नही है। हम दोनो में भी बडा प्रेम था। दुर्भाग्य से सार्थवाह का परदेश मे ही स्वर्गवास हो गया। अब यह मुझसे झगडती है कि यह पुत्र

तेरा नही, मेरा है। महाराज! मैंने पुत्र को जन्म दिया है, मेरा पुत्र मुझे मिलना चाहिए।"

राजा ने दूसरी स्त्री से अपनी सफाई देने को कहा—तो उसने भी वही बात कही जो पहली ने कही—वह कह रही थी "इस पुत्र को मैंने जन्म दिया है, इसकी असली माँ मैं हू यह पुत्र के लिए झूठा झगडा कर रही है।"

राजा यह विचित्र झगडा सुनकर बडे आश्चय मे पड गया। बालक अभी छोटा था, मुह से बोल नही सकता था, फिर दोनो ने ही उसे बराबर प्यार किया, वह दोनो की तर्फ दौडता, उसके लिए दोनो ही मा थी।

राजा ने आकृति विशेषज्ञो को बुलाया। बालक के साथ माता की आकृति का मिलान किया, पर दोनो की ही आकृति एक समान थी और बालक का चेहरा दोनो से बराबर मिलता था। बडे-बडे न्यायाधीश आये, मन्त्रीगण बैठे, पर कोई भी किसी निर्णय पर नही पहुँच सका। राजा चिन्ता मे पड गया—किसका दावा सच है और किसका झूठा? इसी झझट मे राज सभा का समय पूरा हो गया, मध्याह्न हो चला, राजा ने दूसरे दिन इस पर विचार करने का छोडकर सभा समाप्त की।

राजा भोजन करने के लिए महलो मे आया। उसके मन मे वे ही विचार घूम रहे थे। चिन्तन मे गहरा डूबा था। रानी ने राजा के चित्त को विक्षुब्ध देखकर पूछा—महाराज! आज

क्या बात है ? भोजन के समय भी आपका चित्त किसी औ बात में उलझा हुआ है, बड़े खिन्न से लगते हैं ?"

राजा ने कुछ हँसकर कहा—"हाँ, आज तो कुछ ऐसी ह उलझन आपड़ी है, ऐसा मामला आज तक कभी नहीं आया वास्तव में औरतों का झगड़ा बड़ा पेचीदा होता है।"

रानी ने कहा—"ऐसी क्या बात है ? बताइये हम भी जाने !" राजा ने दोनों औरतों का झगड़ा सुनाकर कहा— आज तक हजारों न्याय मैंने किये, पर ऐसा कोई भी मामला नहीं आया बड़ा ही विचित्र और उलझन भरा मामला है सच-झूठ का कुछ पता भी नहीं चलता ।"

रानी मुस्कराकर बोली—"महाराज ! स्त्रियों का न्याय पुरुषों से नहीं, स्त्रियों से ही हो सकता है। आप से न हो सके तो यह मामला मुझे सौंपिये मैं तुरन्त इसका फैसला दे देती हूँ।"

राजा ने चकित होकर कहा—"सच ? तुम न्याय कर दोगी ?"

रानी—हाँ, आप सौंपकर तो देखिए !

दूसरे दिन उन दोनों स्त्रियों को राज सभा में बुलाया गया। राजा रानी को साथ लेकर राजसभा में पहुँचा। रानी न्याय सिंहासन पर बैठी और स्त्रियों को पास बुलाकर उनकी राम कहानी सुनी। दोनों के कहने के ढंग, उनके मनोभाव और

वाणी का लहजा देखकर रानी ने कुछ अनुमान कर लिया और फिर कहा—देखो, बहनो ! तुम्हारा यह झगड़ा कुछ दिन बाद सुलझ सकेगा, एक महान पुत्र मेरे गर्भ में आया है, जन्म के बाद वही अपने ज्ञानजल के द्वारा तुम दोनों का फैसला करेगा, तब तक शान्ति के साथ रहो।

रानी का यह कथन सुनते ही जो नकली माँ थी उसके चेहरे पर खुशी छा गई, उसने सोचा, चलो, तब तक तो यह पुत्र मेरे हाथ में रहेगा ही। किन्तु असली माँ का चेहरा उदास हो गया। उसने हाथ जोड़कर कहा—"रानी जी ! मुझसे अपने पुत्र का अलगाव क्षण भर का भी नहीं सहा जाता, आप महरबानी करके जल्दी ही हमारा फैसला कर दीजिए।"

इस पर नकली मा ने उससे कहा—"रानी जी का कहना तो मानो, कुछ दिन धीरज रखो, क्यों इतनी उतावली हो रही हो।"

रानी ने दोनों के मन की गहराई देखी, चेहरे पर आते हाव-भाव देखे, और असली माँ को अपने पास बुलाकर कहा—"अभी फैसला करदं तुम्हारा ?"

"हा, हाँ ! महारानी जी ! जल्दी ही फैसला कर दीजिए।" उसने कहा।

रानी मंगला ने राजा को इशारा किया—महाराज ! इनमें जो समय का व्यवधान नहीं सह पा रही है, जिसे क्षण

भर भी पुत्र से दूर रहना असह्य हो रहा है, वही असली माँ है, और यह दूसरी नकली है। झूठी है। धन के लालच में पुत्र को अपने पास रखना चाहती है।"

राजा ने झूठी स्त्री को डराया, कुछ ताडना का भय दिखाया—तो उसने सचमुच सही-सही बात कह दी। राजा की अद्भुत न्यायबुद्धि पर सर्वत्र आश्चर्य के साथ धन्यवाद दिया जाने लगा।[1]

रानी मंगला ने गर्भस्थ बालक के दिव्य प्रभाव के कारण इस प्रकार के अनेक न्याय और सद्बुद्धि पूर्ण कार्य किये। समय पर जब बालक का जन्म हुआ तो सभी लोगों ने अपार हर्ष मनाया। पुण्यशाली बालक के जन्म से मानव लोक में ही क्या

---

१ इस न्याय से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, कुछ कथाओं में उल्लेख है—रानी के द्वारा पुत्र के दो भाग करने को कहा गया—उस पर नकली माँ सहमत हो गई किन्तु असली माँ का हृदय हाहाकार कर उठा। उससे पुत्र का विभाजन नहीं देखा गया और कहा—(सच्ची होते हुए भी) मैं झूठी हूँ, यह पुत्र इसी का है, पुत्र इसी को दे दो। टुकड़े मत करो।" इस पर रानी ने जान लिया इसके पास माँ का हृदय है, दूसरी झूठी है।"
किन्तु त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता है

—सम्पादक

किन्तु क्षण भर के लिए अत्यन्त दु:खमय नरक मे भी सुख की लहर दौड जाती है, यह तीर्थंकर के जन्म की विशेषता है।

माता को सद्बुद्धि देने के कारण पुत्र का नाम सुमति रखा गया। सुमति कुमार युवावस्था मे पहुँचे। विवाह हुआ और फिर पूर्व संस्कारो के कारण वैराग्य भावना जगी। स्वय बुद्ध होकर दीक्षित हुए। उनके साथ भी हजारो पुरुषों ने ससार त्याग किया।

बीस वर्ष के कठोर साधनाकाल मे प्रभु सुमतिनाथ ने अनेक उग्र तपश्चर्या, अभिग्रह, ध्यान आदि के द्वारा कर्ममलो का विनाश कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया।

प्रभु ने पहली देशना मे मानव के कर्त्तव्य पर विशेष बल दिया। कर्त्तव्य का बोध कर आत्मा अपने सच्चे हित के लिए प्रयत्न करता है, और वह सच्चा हित त्याग मार्ग मे ही निहित है।

प्रभु की देशना से प्रतिबुद्ध हो हजारो नर-नारी दीक्षित हुए, लाखो गृहस्थो ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। चार तीर्थ की स्थापना कर श्री सुमतिनाथ जिन पाँचवे तीर्थंकर के रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

प्रभु ने अपना अन्तिम समय निकट देखकर एक मास पूर्व

हो अनशन कर लिया। शैलेशी अवस्था में पूर्ण अयोग दशा प्राप्त कर सम्मेतशिखर पर प्रभु ने अव्यय अक्षय मोक्ष पद प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग १

६

भगवान पद्मप्रभ

● सारिणी

जन्मस्थान	कौशाम्बी नगरी
पिता	धर राजा
माता	सुसीमा
जन्मतिथि	माघ वदि १२
दीक्षा तिथि	कार्तिक वदि १३
केवलज्ञान	चैत्री पूर्णिमा
शिष्यसम्पदा	तीन लाख तीस हजार श्रमण चार लाख बीस हजार श्रमणी
चिह्न	पद्म (कमल)
निर्वाण	मृगसरवदि ११ सम्मेतशिखर पर

'पद्म' नाम कमल का है। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ जिनके शरीर की प्रभा तो कमल जैसी सुषमामय थी ही, किन्तु उनका

अन्तरग जीवन भी कमल जैसा ही निर्मल, निर्लेप और सद्गुणो की सुगन्धि से महकता हुआ था।

विगत के अनेक जन्मो की कठोर तपस्या निस्पृह और अनासक्त साधना, तितिक्षा, ध्यान, सेवा आदि के कारण उनकी आत्मा परम पुण्य का उपार्जन कर अन्त मे राजा धर की सुसीमा रानी के गर्भ मे उत्पन्न हुई।

भाग्यशाली पुत्र जब माता के उदर मे आते है तो उनके स्वप्न भी बडे अलौकिक होते है। सुसीमा रानी ने भी एक रात्रि मे चौदह दिव्य स्वप्न देखे। रानी हर्ष विभोर हो उठी। राजा के समीप आकर उसने मधुर लज्जा के साथ अपने दिव्य स्वप्नो की बात कही। राजा ने अत्यन्त स्नेह के साथ रानी को बधाई देकर कहा—"सुसीमा! सचमुच तुम्हारे पुण्य असीम है। स्वप्नशास्त्र के अनुसार ऐसे स्वप्न किसी भाग्यशाली माता को ही आते है, और उसकी सतान विश्व की सर्वश्रे आत्मा-तीर्थंकर के रूप में प्रगट होती है।"

"महाराज! क्या सचमुच ही मैं तीर्थंकर की माता बनूंगी?" अत्यन्त हर्षावेग के साथ रानी ने राजा से पूछा। रानी का अ अग पुलक रहा था।

राजा ने 'हा' कहकर रानी का अभिवादन किया—"देवी! अ तो मैं ही क्या, बडे बडे इन्द्र भी तुम्हे नमस्कार करने आयेंगे अपने भाग्यशाली गर्भ का समुचित परिपालना करती रहो।"

रानी अत्यन्त आमोद-प्रमोद मे समय गुजारने लगी। वह प्रतिदिन तपस्वी श्रमणो को भिक्षा देती, गरीबो, याचको को दान देती, और अपराधियो को क्षमा प्रदान करती हुई आनन्द से समय बिता रही थी। समय पर पद्म की प्रभा जैसे शरीर वाले प्रचण्ड तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। सत्पुत्र के जन्म से समूचा ससार आलोकमय हो गया।

पुत्र का नाम 'पद्मप्रभ' रखा गया। उसकी शरीर कान्ति भी सचमुच पद्म के जैसी ही थी। शरीर पर पसीने की गध की जगह पद्म—जैसी मधुर-मधुर सुवास निकलती थी। इस सुवास का आनन्द लेने और उस कमल से कोमल शरीर का मधुर स्पर्श करने रानी की दासियाँ ही नही, अपितु स्वर्ग की देवागनाये भी दासी का रूप बना-बना कर आती। बालक को गोदी मे लेकर खिलाती, उसकी मीठी हँसी का और बाल-सुलभ क्रीडा का आनन्द लेकर स्वय को धन्य-धन्य समझती।

राजकुमार पद्मप्रभ यौवन मे आये, किन्तु यौवन का नशा उन पर नही आया, अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी उन्होंने कभी एक निर्दोष चीटी को भी कष्ट नही दिया। मनुष्य और पशु पक्षी को पीडा देना तो सचमुच उन्हे अपनी पीडा से भी अधिक असह्य होता। ऐसे विरक्त और कोमल मानस वाले पद्मप्रभ कुमार ससार की माया मे कैसे उलझते? फिर भी कर्त्तव्य के नाते उन्होने विवाह भी किया, राज्य का सचालन भी किया, पर अधिक दिन वे जीवन के अमूल्य क्षणो को यो मिट्टी के मोल गवाने वाले नही थे। जीवन को वे एक यात्रा समझते थे

और उसमें इस राज्य को वे एक विश्रामगृह! मुसाफिर खाना! मुसाफिर राह में आये मुसाफिरखाने से कभी अपना नाता नहीं जोड़ता, वह जानता है, इसे छोड़कर आगे चलना है, यात्रा करनी है और अपनी मंजिल तक पहुँचना है। पद्मप्रभ राजा ने भी इसी दृष्टि से राज्य का भार ग्रहण किया था और इसी दृष्टि से एक दिन सर्वथा त्याग कर श्रमण साधना के अग्नि पथ पर बढ़ गये।

प्रभु पद्मप्रभ की आत्मा बहुत ही निर्मल और हलुकर्मी (कर्मों से हलकी) थी, कर्मदल उनका बहुत ही क्षीण हो चुका था, इस कारण उन्हें बहुत लम्बी साधना नहीं करनी पड़ी। छह मास की साधना के बाद ही वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर पद को प्राप्त हो गये।

प्रथम देशना में ही उन्होंने संसार की विचित्रता का वर्णन किया। चौरासी लाख योनियों में आत्मा किस प्रकार भटकता रहा है, और कैसे-कैसे भयंकर कष्ट, वेदना और यन्त्रणा सहता रहा है इसका सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए प्रभु ने कहा—

"जिन नरक की भयंकर वेदना की कल्पना मात्र से भी आज हृदय काँप उठता है, वैसी दुःसह्य नारकीय वेदना इस आत्मा ने कितनी बार सहन की है?

कीट-पतंग-पशु पक्षी योनि में भी यह आत्मा कल्पनातीत दुःख व वेदनायें असंख्य-असंख्य बार भोग चुका है। मानव जीवन में जो सुख दिखाई देता है ? दुःखों का इससे भी भार

भी सुख नही, और जो सुख है वह भी सिर्फ काल्पनिक है, मधु से लिपटी तलवार चाटने मे क्षणिक आनन्द के बाद जीभ कटने से कितनी तीव्र पीडा की अनुभूति होती है ? सासारिक सुख भी इसी प्रकार क्षणिक सुख की कल्पना देकर अत्यन्त पीडा के परिणाम उत्पन्न करने वाले है। फिर भी मनुष्य भोगो मे मूढ और मूर्च्छित बना पूरा जीवन यो ही गवा देता है। बचपन मे वह मातृमुखी—(माता का मुह ताकने वाला) रहता है, यौवन आते ही स्त्रीमुखी (स्त्री का मुख देखने वाला) बन जाता है और बुढापे मे हाथ-पाव ढीले होने पर पुत्र मुखी (पुत्रो के मुह सामने देखने वाला—परजन) रह जाता है, किन्तु वह मूढ कभी भी अन्तर्मुखी (आत्मा की ओर देखने वाला) नही बनता। यदि वह अन्तर्मुखी बन जाय, तो फिर दुखी भी नही हो सकता, शाश्वत सुख, अनन्त आनन्द और परम शान्ति का अनुभव करते फिर क्या देर लगे ?

प्रभु ने देवयोनि के विषय मे भी मनुष्यो के भ्रम का निवारण करते हुए कहा—"यह समझना भूल है, कि देवता सुखी होते है। उनमे भी मनुष्यो की तरह शोक, ईर्ष्या, द्वेष, लाभ विषयेच्छा और दीनता भरी हुई है। वे भी भय और दीनता के शिकार हुए दु खमय जीवन जीते हैं। इन दुखो से मुक्त होने का तो एक ही मार्ग है—अन्तर्मुखता ! आत्मलीनता। आत्मा का दर्शन जो कर लेगा और उस पथ पर बढ चलेगा वही परम सुख का अनुभव कर सकता है।

प्रभु की प्रभावशाली देशना से प्रबुद्ध होकर अनेकों राजा, राजकुमार, श्रेष्ठी, रानियां एवं कुटुम्बिनी गृहणियां ने मुनि धर्म व श्रावक धर्म स्वीकार किया। चार तीर्थ की स्थापना के कारण प्रभु पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर हुए। अन्तिम समय में अनशन के साथ शरीर त्याग कर कर्मों से सर्वथा मुक्त हो मोक्ष स्थान में विराजमान हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, 'सग

७ भगवान सुपार्श्वनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	वाराणसी
पिता	प्रतिष्ठ राजा
माता	पृथ्वी रानी
जन्मतिथि	जेठ सुदि १२
दीक्षा तिथि	जेठ सुदी १३
केवलज्ञान	फाल्गुन वदि ६
शिष्य सम्पदा	तीन लाख श्रमण चार लाख तीस हजार श्रमणी
चिह्न	स्वस्तिक
निर्वाण	फाल्गुन वदि ७ सम्मेत शिखर

भादवे का महीना, काली-काली घटाओं से घिरा नीला आकाश ! बीच-बीच में घहर-घहर कर बिजली चमक रही थी, बादल गर्ज रहे थे, मोर पिऊ-पिऊ कर मस्ती में झूम

रहे थे। महारानी पृथ्वी फूलों की कोमल शय्या में सोई कुछ-कुछ उनींदी थी। वह दिव्य स्वप्न लोक में विहार कर रही थी। उसने कई महान स्वप्न देखे—एक श्वेत हाथी'—जैसे चाँदी का पहाड़ हो, चाँद की शुभ्र चाँदनी में नहाता हुआ रानी के मुख की ओर आ रहा है। कुछ ही क्षणों में जैसे चित्रपट बदल गया हो, हाथी के स्थान पर एक सुन्दर श्वेत वृषभ रानी की ओर बढ़ रहा है, उसके लम्बे-लम्बे नुकीले सींगों पर जैसे चाँदी सोने के पात जड़ दिये हों, उन्नत स्कंध, रुई सी कोमल रोएँदार चमड़ी। वृषभ रानी के पास में आकर खड़ा हो गया है। दृश्य बदलता है, लाल-तप्त-ताम्र सी चमकती आँखों वाला मृगराज' रानी के मुख के पास आकर खड़ा हो जाता है। रानी निर्भय उसे देख रही है, जी करता है उसकी कोमल केसरा (अयाल) पर अंगुलियाँ डालकर सहला दे। पुनः दृश्य बदलता है कमल आसन पर बैठी लक्ष्मी' आकाश से उतरकर रानी के निकट आ रही है, उसकी दिव्य व सौम्य कान्ति की छटा से आस पास एक ज्योति बिखर जाती है।

कुछ क्षणों में लक्ष्मी के स्थान पर एक महकते फूलों की रंग बिरंगी माला' रानी के पास आ जाती है, उसकी भीनी-भीनी सौरभ से दिशाएँ महक उठती हैं, भौंरे पुष्प-कोशों पर गुनगुना रहे हैं, मनोहारी दृश्य क्षण भर में बदल जाता है और अब पूर्णिमा का सुन्दर सौम्य चाँद' छिटकता हुआ जैसे बालक की भाँति रानी की गोद में बैठा खेल रहा है। सौम्य निर्मल चाँदनी छिटक रही है, उस धरती पर दूध की परत फैल गई

हो। तभी दिशाओ मे रोली बिखेरता हुआ जाज्वल्यमान सूर्य[७] अग्नि पिंड-सा घूमता हुआ रानी की गोद मे आ गिरता है। क्षण भर रानी स्तम्भित हो जाती है, सूर्य गायब ! और एक रग-बिरगी ध्वजा[८] लहरा रही है, सितारा से बाते करने जैसे बार-बार आकाश को छूने जा रही हो। रानी उसे देखने लगी कि एक स्वर्णकलश[९] जल से परिपूर्ण, जिस पर फूलो की मालाये रखी है, रानी के सामने आ जाता है, उसकी शोभा देखने को ललचाती आँखे सहसा एक पद्म सरोवर[१०] पर जा टिकती है। लाल-श्वेत पीले कमल खिले है। हसो के युगल सरोवर पर तैर रहे है, मछलियाँ फहर फहर मचल रही है, उस रमणीय सरोवर की छटा देखती-देखती रानी सहसा क्षीर-सागर[११] के किनारे पहुँच जाती है। लहरे मचल-मचल कर ऊपर उछाले लगा रही है, नाना प्रकार के मच्छ, कच्छ महा-मत्स्य सागर मे हिलोरे ले रहे है। क्षीर सागर की क्रीडा पूरी नही हुई कि एक दिव्य मणिरत्न मडित देव विमान[१२] रानी के सामने आकर उपस्थित हो जाता है। अपूर्व है उसकी रचना ! आँखें फिसलती जा रही है उसकी मनोरम छवि पर ! तभी एक विशाल रत्नराशि[१३] रानी के सामने आती है, मणियो की रग-बिरगी प्रभा से दिशाएँ सतरगी-सी हो रही है। देखते-देखते पलकें झुकती भी नही हैं, कि एक निर्धूम ज्योति शिखा[१४]

---

१ ये चौदह महास्वप्न प्रत्येक तीर्थंकर की माता देखती है

दिखाई देती है, उनकी लौ इतनी ऊँची उठ रही है, मा
आकाश को चूम लेगी।

महारानी पृथ्वी उन विचित्र स्वप्न लोक में विहार कर
हुई सहसा जाग उठी। एक साथ, कुछ ही क्षणों में इतने विचि
और इतने श्रेष्ठ स्वप्न रानी ने आज तक नहीं देखे थे।
आश्चर्य में डूबी अपनी शैय्या पर बैठ गई।

कुछ क्षण ठहर कर महारानी पास के शयनागार में सो
महाराज प्रतिष्ठ के निकट आई। रानी के पाँवों की आहट
राजा जग गया। आश्चर्य के साथ राजा ने रानी से आने
कारण पूछा। रानी ने अपने महान दिव्य चौदह स्वप्नों
बात कही, तो सुनते-सुनते राजा प्रतिष्ठ हर्ष विभोर हो उठा
सहसा राजा के मुख से निकल गया—"रानी! महान भाग
शालिनी हो तुम! मैंने सुना है, ऐसे महान स्वप्न दर्शन वाल
तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माता होती है। संसार का कल्या
करने वाला महान पुत्र तुम्हारे उदर में आयेगा।" सुनकर रा
प्रसन्नता से झूम उठी।

समय पर रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। राजा
और रानी की खुशी का अब कोई ठिकाना नहीं रहा। पूरे
राज्य में उत्सव मनाये जाने लगे। घर घर में बधाइयाँ बँटी,
खुशी के गीत गाये गये।

बालक का नाम रखा गया—'सुपार्श्व।' यह पुत्र जन्म से

ही अनन्त पुण्यवानी साथ लेकर आया था, उसके पराक्रम, तेज और और बुद्धि कौशल का सब लोहा मानते थे।

युवा होने पर सुपार्श्वकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। पुरुष के लिए नारी दलदल होती है, उसके शारीरिक मोह में फँसकर पुरुष अपने को भूल बैठता है, जिस पुरुष का हृदय वैराग्य से ओत-प्रोत हो, वह इस कीचड में भी कमल की भाँति निर्लेप रह सकता है। सुपार्श्व कुमार राज वैभव और सुन्दरियो के मोहक काम-भोगों के बीच रहकर भी सदा उनसे अनासक्त रहे। इस अनासक्ति की चरम परिणति स्वरूप एक दिन उन्होने राज्य, एव भोग विलास का त्याग कर सयम का पथ स्वीकार कर लिया।

सुपार्श्व कुमार के प्रव्रजित होने के साथ ही हजारो अन्य राजा और राजकुमारो ने भी सयम का कठोर मार्ग स्वीकार किया और वे भी साधना करने लगे।

प्रभु सुपार्श्व ने सयम ग्रहण किया उसी दिन से वे मौन व्रत लेकर अत्यन्त उग्र तपश्चरण में जुट गये। अभिग्रह, ध्यान, एव समाधि मे लीन होते हुए नौ महीने तक वे अकेले विहार करते रहे। साधना के उच्चतम शिखर पर चढते हुए प्रभु सुपार्श्व अब सिद्धि के द्वार पर पहुँचे। एक दिन शिरीष वृक्ष की छाया में वे कायोत्सर्ग (निश्चल ध्यान मुद्रा) किये खडे थे। घनघाती कर्मदलो का आवरण हटा, सहसा लोकालोक-

दिखाई देती है, उसकी लौ इतनी ऊँची उठ रही है, मानो आकाश को चूम लेगी।

महारानी पृथ्वी इस विचित्र स्वप्न लोक में विहार करती हुई सहसा जाग उठी। एक साथ, कुछ ही क्षणों में इतने विचित्र और इतने श्रेष्ठ स्वप्न रानी ने आज तक नहीं देखे थे। वह आश्चर्य में डूबी अपनी शैय्या पर बैठ गई।

कुछ क्षण ठहर कर महारानी पास के शयनागार में सोये महाराज प्रतिष्ठ के निकट आई। रानी के पावों की आहट से राजा जग गया। आश्चर्य के साथ राजा ने रानी के आने का कारण पूछा। रानी ने अपने महान दिव्य चौदह स्वप्नों की बात कही, तो सुनते-सुनते राजा प्रतिष्ठ हर्ष-विभोर हो उठा। सहसा राजा के मुख से निकल गया—"रानी! महान भाग्य शालिनी हो तुम! मैंने सुना है, ऐसे महान स्वप्न देखने वाली तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माता होती है। संसार का कल्याण करने वाला महान पुत्र तुम्हारे उदर में आयेगा।" सुनकर रानी प्रसन्नता में झूम उठी!

समय पर रानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। राजा और रानी की खुशी का अब कोई ठिकाना नही रहा। पूरे राज्य में उत्सव मनाये जाने लगे। घर-घर में बधाईयां बँटीं, खुशी के गीत गाये गये।

बालक का नाम रखा गया—'सुपार्श्व!' वह पूर्व जन्म से

ही अनन्त पुण्यवानी साथ लेकर आया था, उसके पराक्रम, तेज और और बुद्धि कौशल का सब लोहा मानते थे।

युवा होने पर सुपार्श्वकुमार का अनेक राजकन्याओ के साथ पाणिग्रहण हुआ। पुरुष के लिए नारी दलदल होती है, उसके शारीरिक मोह मे फँसकर पुरुष अपने को भूल बैठता है, जिस पुरुष का हृदय वैराग्य से ओत-प्रोत हो, वह इस कीचड मे भी कमल की भाति निर्लेप रह सकता है। सुपार्श्व कुमार राज वैभव और सुन्दरियो के मोहक काम-भोगो के बीच रहकर भी सदा उनसे अनासक्त रहे। इस अनासक्ति की चरम परिणति स्वरूप एक दिन उन्होने राज्य, एव भोग विलास का त्याग कर सयम का पथ स्वीकार कर लिया।

सुपार्श्व कुमार के प्रव्रजित होने के साथ ही हजारो अन्य राजा और राजकुमारो ने भी सयम का कठोर मार्ग स्वीकार किया और वे भी साधना करने लगे।

प्रभु सुपार्श्व ने सयम ग्रहण किया उसी दिन से वे मौन व्रत लेकर अत्यन्त उग्र तपश्चरण मे जुट गये। अभिग्रह, ध्यान, एव समाधि मे लीन होते हुए नौ महीने तक वे अकेले विहार करते रहे। साधना के उच्चतम शिखर पर चढते हुए प्रभु सुपार्श्व अब सिद्धि के द्वार पर पहुँचे। एक दिन शिरीष वृक्ष की छाया मे वे कायोत्सर्ग (निश्चल ध्यान मुद्रा) किये खडे थे। घनघाती कर्मदलो का आवरण हटा, सहसा लोकालोक-

प्रकाशी केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर सुपार्श्व प्रभु केवली हुए।

अगणित देवगण एवं मानव प्रभु का केवल महोत्सव करने आये। देवताओं ने समवसरण की रचना की, देव-दानव-मानव प्रभु की दिव्य देशना सुनने को लालायित हो रहे थे। उत्सुक-जन मेदिनी को सम्बोधित कर प्रभु ने आत्मा और देह के भिन्नत्व (भेदविज्ञान) पर धीर-गम्भीर देशना दी। प्रभु ने कहा—"मनुष्य मोह के वश होकर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि को अपना समझ बैठा है, इनके साथ अपनत्व का बंधन जोड बैठा है, किन्तु, ये तो क्या, उसका यह शरीर भी अपना नही है, परलोक की यात्रा जब होगी तो शरीर भी छोडना पडेगा, आत्मा अकेला ही उस यात्रा पर जायेगा और अपने कृत सुख-दुःख का भोग करेगा।

शरीर—पर है, आत्मा—स्व है, जब तक इनकी भिन्नता का, भेद का ज्ञान नही होगा तब तक ममता छूट नही सकती। ममता छूटे बिना दुःख नही छूटेगा। मनुष्य जब देह-बुद्धि से मुक्त होकर आत्म-निष्ठ बनेगा, आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करेगा, तभी वह संसार के बंधनों, एवं दुःखो से मुक्त हो सकेगा।"

प्रभु की दिव्य वाणी का अमोघ प्रभाव होता है, देव और मनुष्य ही क्या, पशु पक्षी भी उससे आत्म-बोध प्राप्त कर

सकते हैं। हजारो नर-नारियो का हृदय इस देशना से जागृत हुआ और उन्होने प्रभु के चरणो मे आकर सयमपथ स्वीकार किया। चार तीर्थ की स्थापना कर प्रभु सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थंकर के रूप मे पृथ्वी पर विचरने लगे। अन्त मे सवकर्म क्षय कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग ४

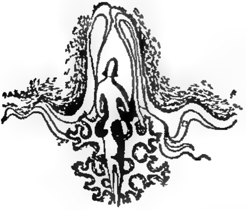

८

भगवान चन्द्रप्रभ

• सारिणी

जन्म स्थान	चन्द्रानना नगरी
पिता	महासेन
माता	लक्ष्मणा
जन्मतिथि	पौष वदि १२
दीक्षा तिथि	पौष वदि १३
केवलज्ञान	फाल्गुन वदि ७
शिष्यसम्पदा	दो लाख पचास हजार श्रमण, तीन लाख अस्सी हजार श्रमणी
चिह्न	चन्द्रमा
निर्वाण	भाद्रपद वदि ७ सम्मेदशिखर पर

महासेन राजा की अद्वितीय रूप-लावण्यवती रानी थी लक्ष्मणा। वह रूप एवं सौन्दर्य में लक्ष्मी थी तो बुद्धि और विवेक में सरस्वती से होड करती थी।

रानी लक्ष्मणा ने चन्द्र की शुभ्र प्रभा जैसे एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र महान भाग्यशाली होनहार था, जन्म लेते ही स्वर्ग की अप्सरायें, दिशाकुमारियाँ सौधर्मकल्प आदि के इन्द्र एवं अमरत्य देवगण बालक का जन्म महोत्सव मनाने के लिए आये। तीर्थंकरों की जन्म कल्याणक विधि के अनुसार दिशाकुमारियों ने धीरे से बालक को अपने कोमल हाथों में लिया, फिर उसे मेरु पर्वत पर ले गई, वहाँ देवेन्द्रो ने दिव्यजल से अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ बालक का स्नान कराया। सुवासित अंग-राग का लेपन किया, अप्सराओं (देवियों) ने मनोहर नृत्य और गीत गाये और फिर देवराज ने भक्ति भरे हृदय में स्तुतियां कीं, चूँकि यह बालक होनहार तीर्थंकर चन्द्रप्रभ थे। कुछ क्षण में ही यह दिव्य महोत्सव का कार्यक्रम कर पुन बालक को माता के पास में ले जाकर ज्यों का त्यों सुला दिया गया। माता लक्ष्मणा को जैसे पता भी नहीं चला, कि बालक को किसी ने उठाया भी था क्या ?

प्रात समूचे राज्य मे जैसे कोई स्वर्णिम प्रभात का उदय हुआ हो, सर्वत्र खुशी की लहर दौड गई। घर-घर मिठाई बाँटी गई, याचकों को मुक्त हाथ से दान दिया गया, बन्दीजनों को कारागार से मुक्त कर दिया गया।

बालक का सौन्दर्य अद्वितीय था। उसके दिव्य तन से चन्द्रमा जैसी शुभ्र प्रभा छिटकती रहती थी। जहां कहीं बालक बैठता, खडा होता तो ऐसा लगता चन्द्रमण्डल की निमन

शुभ्र प्रभा छितरा रही हो। इस अपूर्व सुषमा के कारण बालक का नाम भी 'चन्द्रप्रभ' प्रसिद्ध हुआ।

बालक चन्द्रप्रभ शैशव की मनोहरी क्रीडा करते-करते अब यौवन के मधुवन मे प्रविष्ट हुए। माता-पिता ने पुत्र से विवाह करने का आग्रह किया। यद्यपि उनका हृदय भोग-विलास की भावना से मुक्त था। परम निर्वेद की धाराओ से आप्लावित था, किन्तु इकलौता पुत्र यदि माता-पिता की भावना और इच्छा को पूरी न करे तो उन्हें कितनी गहरी चोट लगे, इसका भी उन्हे अनुभव था। धर्म और अध्यात्म के साथ नीति और व्यवहार का ताल-मेल रखना, उनका आदर्श था। देव कन्याओ जैसी परम सुन्दरियो के साथ चन्द्रप्रभ कुमार का पाणिग्रहण हुआ और कुछ समय तक वे ससार के काम, भोग एव राज्य सत्ता का उपभोग कर अपना क्षत्रिय धर्म निबाहते रहे। आश्चय की बात तो यह थी कि वे परम पराक्रमी होते हुए भी कभी किसी दीन, निरपराध को पीडा तक नही पहुँचाई, शत्रु को भी बल व छल से नही, किन्तु प्रेम से जीतते रहे और सुखो के महासागर मे रहते हुए भी कभी उनमे लिप्त नही हुए। जैसे मक्षिका मिसरी की डली पर बैठती है, कुछ क्षण रसास्वाद लेती है, और उड जाती है, यही स्थिति थी उनके जीवन की। राज्य करते हुए, सुन्दरियो के हाव भाव कटाक्षो के बीच रहते हुए भी उनके अन्दर मे वैराग्य की तीव्र ज्योति सदा जलती रही।

समय आया, चन्द्रप्रभ प्रभु ने सम्पत्ति एव वैभव का मुक्त-हस्त से दान किया, और राज्य का उत्तरदायित्व पुत्रो को सौंपकर स्वय अणगार-भिक्षु वन गये। क्षण भर पहले जो प्रतापी सम्राट थे, अव तपोधन अणगार वनकर गाँव-गाँव जगल-उपवन मे विहार करने लगे।

तीर्थकरो के जीवन की सामान्य विधि है कि दीक्षा के पूर्व दिन से ही वे उपवास प्रारम्भ कर देते हैं। दीक्षा के वाद (वेला करके) पारणा करते है। प्रभु चन्द्रप्रभ ने भी दीक्षा के दूसरे दिन सोमदत्त राजा के घर पर भिक्षा ग्रहण कर पारणा किया। पुन तप साधना मे लीन हो गये। जगलो मे सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवो के अनेक उपसर्ग हुए, अज्ञान मनुष्यों ने भी कई प्रकार के कष्ट दिये, उनके मनोहर सौन्दर्य पर पागल हुई अनेक सुन्दरियाँ शृगार-हास विलास करके उन्हे अपनी और आकृष्ट करने का प्रयत्न करती रही, इस प्रकार अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहो को समतापूवक सहन करते हुए श्री चन्द्रप्रभ प्रभु सतत निर्मोह, निर्विकल्प दशा मे विचरते रहे। ध्यान की उदग्र साधना से उन्होंने, काम पर, मोह और सम्पूर्ण राग दशा पर विजय प्राप्त करली। इस प्रकार तीन मास की अल्पकालीन किन्तु कठोर साधना के वाद कर्म क्षीण हुए और श्री चन्द्रप्रभ प्रभु केवली वने।

केवल ज्ञान प्राप्त करने के तुरन्त वाद असख्य देवगण, इन्द्र, एव मानव-मेदिनी प्रभु के दर्शन करने को उमड आई।

देवताओं ने दिव्य समवसरण की रचना की। चारों ओर अपार जिज्ञासु परिषद् जमा हुई। प्रभु ने अपनी प्रथम धर्म देशना दी। अशौचभावना पर बल देते हुए प्रभु ने कहा—"मानव जिस देह की मूर्च्छा में आसक्त हुआ रात दिन उसकी सार सम्भाल एवं देखभाल करता है, जिस देह के पालन-पोषण के लिए महा आरम्भ एवं हिंसाएँ करता है, और जिस देह के सौन्दर्य पर मुग्ध हुआ दीपक की लौ पर पतंगे की भाँति अपना बलिदान कर देता है, वह देह कितना अशुचिमय और जुगुप्सनीय है? इस चमड़ी के नीचे छिपे रक्त-माँस मल-मूत्र आदि का नग्न रूप यदि उसके सामने आये तो तुरन्त वह घृणा के मारे नाक-भौंह सिकोड़ने लगेगा। सुन्दर, एवं मधुर भोजन, सुगंधित ताम्बूल, विलेपन आदि इस शरीर के संसर्ग में कितने अशुचिमय बन जाते हैं? यह स्पष्ट है। जिस शरीर में जाकर पवित्र अन्न आदि इतने दुर्गंधमय अपवित्र बन जाय, वह शरीर अपवित्रता का भण्डार नहीं तो क्या है? फिर इसका मोह, इसकी मूर्च्छा कैसी। इस अपवित्र एवं नश्वर देह में जो मनुष्य पवित्र एवं अमर धर्म की साधना कर लेता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है, जैसे खारे समुद्र में से रत्नराशि निकाल लेने वाला भाग्यशाली माना जाता है, वैसे ही अशुचिमय देह से पवित्र धर्म की आराधना करने वाला वास्तव में ही महान भाग्यशाली और पुण्यशाली आत्मा होता है।"

प्रभु की देशना का अचूक प्रभाव होता। उनकी वाणी ं

हृदय को स्पर्श करने वाली चुम्बकीय शक्ति होती है, क्योंकि वह परम पवित्र तप पूत आत्मा से निकलती है। उपदेश सुनकर हजारों आत्मायें प्रतिबुद्ध हुई। दृढ सकल्पी सहस्रो नर-नारी वही प्रभु के चरणो मे दीक्षित हो गए, और लाखो मनुष्यो ने श्रावक धम स्वीकार किया।

इस प्रकार चार तीथ की स्थापना हुई, चूकि प्रत्येक तीर्थंकर स्वय सम्बुद्ध होते है, और केवलज्ञान प्राप्त कर नये तीथ की स्थापना करते है।

अगणित काल तक प्रभु चन्द्रप्रभ ने ससार को अध्यात्म का महान सदेश देते हुए अन्तिम समय मे सम्मेतशिखर के उच्चतम शिखर पर जाकर अनशन किया, चार शेप कर्मो का क्षय कर परम शान्तिमय निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग ५,

□□

९

भगवान सुविधिनाथ

- सारिणी

जन्मस्थान	काकंदी नगरी
पिता	सुग्रीव राजा
माता	रामा रानी
जन्मतिथि	मिगसर वदि ५
दीक्षा तिथि	मिगसर वदि ६
केवलज्ञान	कार्तिक शुक्ला ३
शिष्य सम्पदा	दो लाख श्रमण एक लाख बीस हजार श्रमणी
चिह्न	मकर
निर्वाण	कार्तिक कृष्णा ९ सम्मेतशिखर

नौवें तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ का जन्म भरत खण्ड के
प्रतापी सम्राट सुग्रीव के घर में हुआ। महारानी रामा सचमुच
रमा (लक्ष्मी) का अवतार थी। राजा सुग्रीव और रामा की

जोडी देखकर लोग कहते थे—यह चन्द्र और रोहिणी की मनोहर दिव्य जोडी है।

चौदह दिव्य स्वप्नो के साथ रानी ने जिस पुत्र रत्न को जन्म दिया वह एक अद्वितीय वालक था। उसके जन्म समय मे ससार मे सवत्र आनन्द की सहज हिलोरे उठ गई, गहन अधकार मे भी प्रकाश की किरण-सी फैल गई। क्षण भर के लिए दुष्ट, अपनी दुष्टता भूल गए, क्रूर प्राणी दया की भावनाओ से पुलक उठे, समूची सृष्टि एक विचित्र प्रकार के आनन्द स्पन्दन से पुलकित हो उठी। राजा रानी ने अपूर्व जन्म महोत्सव मनाकर वालक का नाम रखा—'सुविधि'। एक दूसरा नाम 'पुष्पदत' भी रखा गया।

राजकुमार सुविधि ने पूर्व जन्म मे अनेक उग्र तपश्चर्याएँ की थी, जिनके प्रभाव से इस जन्म मे उन्हे अपूर्व काति, तेज और वल-पराक्रम की उपलब्धि हुई। युवा होने पर वे दीक्षा लेना चाहते थे, किन्तु माता-पिता के आग्रह से ससार मे रुके रहे। राज्य सत्ता सम्भाली, विवाह किये, राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध भी किये, किन्तु इन सवके बीच जैसे पतग आकाश मे उडती हुई भी उडाने वाले के हाथ मे वँधी रहती है, वैसे ही वे अपनी भावना को आत्मा के साथ जोडे रहे। उनका चितन सदा आत्ममुखी रहा, आत्मा ही उनका केन्द्र था।

पुत्र आदि के योग्य होने पर श्री सुविधिनाथ जी ने राज्य आदि का उत्तरदायित्व उन्हे सौंपा और स्वय अपने ही हाथो

द्वेष, काम मोह आदि में आसक्त हुआ वह अशुभ कर्मों का उपार्जन किया करता है, यदि वह अपनी असत्प्रवृत्ति पर, राग द्वेष, कषाय आदि वृत्तियों पर नियन्त्रण करे, समता की साधना करे, तन को और मन को ऊर्ध्वगामी बनाये, प्रमाद और विषय से पराङ्मुख होकर धर्म में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करे, वह इन कर्मों से मुक्त होकर परम शुद्ध दशा को प्राप्त हो सकता है।"—कर्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन सुनकर हजारों नर-नारी प्रबुद्ध हुए, उन्हें आत्म स्वरूप का बोध हुआ। बहुतों ने तत्काल ही वहीं अपने वस्त्राभरण उतार कर कठोर मुनि दीक्षा स्वीकार करली, बहुत से गृहस्थ जो सर्वथा त्यागी बनने में स्वयं को असमर्थ पा रहे थे, उन्होंने बारह व्रत स्वीकार किये। इस प्रकार सुविधि प्रभु की प्रथम देशना में ही चार तीर्थ की स्थापना हुई। दीक्षितों में वराह नाम के एक महान विद्वान भी थे, वे भगवान के प्रथम गणधर बने। प्रभु की वाणीरूप पुष्पों को उन्होंने माला रूप में सकलित कर जन-जन में उसका प्रचार किया, और लाखों भव्य-जीवों को सद्धर्म का प्रतिबोध दिया।

जीवन का अन्तिम समारोप सबसे महत्वपूर्ण होता है, साधक इस समय में सर्वथा समाधिस्थ होकर साधना का नवनीत प्राप्त करता है। प्रभु सुविधिनाथ जी भी सिद्धि के द्वार तक पहुँच गये थे, अब अन्तिम अनशन कर देह मुक्त हुए और उस शाश्वत सुखमय सिद्धि नगर में प्रविष्ट हो गये।

प्रभु सुविधिनाथ जी और शीतलनाथ जी के बीच का समय धर्म तीर्थ की दृष्टि से बडा ही विकट रहा। ज्ञान व विवेक के अभाव मे लोग मार्गभ्रष्ट होने लगे, असत्य का उपदेश करने लगे, इस कारण उनका मध्यान्तर तीर्थ-विच्छेद का काल माना गया है।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ३, सर्ग ७,

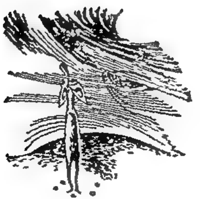

१०

भगवान शीतलनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	भद्दिलपुर
पिता	दृढरथ
माता	नन्दा
जन्मतिथि	माघ वदि १२
दीक्षा दिन	माघ वदि १२
केवलज्ञान	पौष वदि १४
शिष्यसम्पदा	एक लाख श्रमण एक लाख छह हजार श्रमणी।
चिह्न	श्रीवत्स
निर्वाण	वैशाख वदि २

भद्दिलपुर का राजा दृढरथ बहुत ही उदार और प्रजा-वत्सल राजा था। उसने राज्य में स्थान-स्थान पर दानशालाएँ और भोजनशालाएँ खोल रखी थीं। राजा के आदर्श का अनुसरण कर वहाँ की प्रजा भी दीन-याचकों व पथिकों को

अपने मित्रो की तरह प्रेमपूर्वक भोजन कराती, उनके सुख व आराम की चिन्ता करती थी। इस प्रकार उस राज्य मे सम्पूर्ण प्रजा बडी ही दयालु, परोपकारपरायण और कर्त्तव्य-निष्ठ थी।

राजा की अत्यन्त प्रिय रानी थी नदा। नदा ने एक महान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म से राजा के शरीर का तप्त रोग शान्त हो गया था, इस कारण पुत्र का नाम 'शीतलनाथ' रखा गया। बालक के देह की स्वर्णमयी छवि बडी मनोहर व मनभावनी लगती थी। उसकी सुषमा बडी अद्भुत थी।

धीरे धीरे शीतलनाथ जी युवा हुए। राजकन्याओ के साथ पाणिग्रहण हुआ। इधर वृद्ध अवस्था आने पर राजा ने भी अपने राज्य का सम्पूर्ण भार पराक्रमी पुत्र के हाथो मे सौंपा और स्वय भोगो का त्याग कर योगसाधना की ओर बढ चला। रानी नदा भी राजा के आदर्श की अनुगामिनी बनी, वास्तव मे यही तो सच्चे पतिव्रत धर्म की कसौटी है, जो नारी भोग के समय पति का साथ देती रहे, किन्तु रोग के समय मे सेवा न करे और योग के समय उसका अनुसरण न करे, वह सच्ची पतिव्रता कैसे हो सकती है? नदा सच्ची पतिव्रता थी और एक महान तीर्थंकर की माता भी थी। अस्तु

माता पिता के द्वारा सौपे गये उत्तरदायित्वो का पालन

करते हुए शीतलनाथ प्रभु अपनी प्रजा व राष्ट्र की दीर्घकाल तक परिपालना करते रहे। एक दिन उनके सहज विरक्त मन मे वैराग्य की लहर तीव्र हो उठी, बस, फिर क्या था, वीर पुरुष जिस कार्य को करने का सकल्प कर लेते हैं, उसमे फिर क्षण भर भी विलम्ब नही करते। प्रभु शीतलनाथ ने राज्य का उत्तरदायित्व अपने पुत्र को सौपा और स्वय आत्म-साधना करने के लिए अपार राज वैभव को, सुन्दरियो के मधुर नुपूरो से झनकते महलो को, असख्य मणिरत्नो से भरे भण्डारो को और विनयपूर्वक हाथ जोडे खडे हजारो दास-दासियो को छोड कर, फूला सी सुकुमार देह को, शूलो से तीखे साधना पथ पर झावने चल पडे।

दीक्षा का सकल्प होने पर एक वर्ष तक प्रभु ने मुक्त हाथ से दान दिया। दान देकर प्रभु जब दीक्षा लेने को नगर के बाहर चले तो अगणित देव और मानव उनका अनुगमन करते हुए उनके पीछे-पीछे चल पडे। प्रभु एक मनोहर शिविका पर आसीन हुए। उस पालकी (शिविका) को उठाने के लिए देवता और मनुष्यो मे जैसे होड लग गई थी। देवता आगे बढे कि हम उठायेंगे, किन्तु मनुष्य तो उनसे भी महान था, एक मानव ही तो इस महापथ पर बढने का अपूर्व साहस कर आगे बढा था, अत मनुष्य देवताओ से स्पष्ट प्रतिस्पर्धा कर सकता था। फलस्वरूप प्रभु की पालकी को एक ओर से मनुष्यो ने अपने हाथ का सहारा दिया और दूसरी ओर देवताओ ने। इस प्रकार असख्य देव व मानवो ने मिलकर प्रभु की पालकी

उठाई। आकाश से चारों ओर से फूलो की वर्षा हो रही थी। नगर के बाहर सहस्राम्र वन मे आकर प्रभु की पालकी रखी गई। प्रभु पालकी से नीचे उतरे, अपने हाथ से समस्त आभूषण उतारे, फिर समस्त मूल्यवान वस्त्र उतारे, पचमुष्ठिलोच किया (चार मुष्ठि से सिर के बाल और एक मुष्ठि से दाढी आदि के बाल निकालते हैं) केश लुचन करके पूर्व दिशा की ओर मुख किये हुए प्रभु ने समस्त सावद्ययोगो का त्याग किया। प्रभु के साथ ही एक हजार राजाओ ने भी दीक्षा स्वीकार की।

प्रभु शीतलनाथ अब तक तीन ज्ञान (मति-श्रुत-अवधि) से युक्त थे, जैसे कि सभी तीर्थंकर होते हैं। दीक्षा लेते ही भावनाओ मे अपूर्व उज्ज्वलता और सयम की अप्रमत्त स्थिति आई जिसके कारण उसी क्षण उन्हे मन पर्यव ज्ञान भी उत्पन्न हो गया। इस ज्ञान के बल पर वे समस्त (सज्ञी प्राणियो) के मनोभावो को ऐसे जानने लगे जैसे हथेली की रेखाएँ।

दीक्षा के दिन प्रभु को दो दिन का उपवास था, अत दीक्षा के बाद प्रभु ने पहला पारणा पुनर्वसु नामक राजा के घर पर किया। उसी समय आकाश मे पाँच दिव्य वस्तुओ की वर्षा हुई, देवताओ ने दुन्दुभियाँ बजाकर इस महादान की प्रशसा की। सचमुच मे ऐसे महान पुरुष को दान देने का अवसर एक महान सौभाग्य ही होता है। कहते हैं इस दान की स्मृति मे

परिशिष्ट

तीर्थंकरों की विशिष्टता

तीर्थंकर शब्द का अर्थ

तीर्थंकर जैन परिभाषा का एक विशिष्ट शब्द है। इसमें दो शब्द हैं—तीर्थ+कर। तीर्थ का प्रचलित अर्थ पवित्र स्थान होता है, किन्तु यहाँ पर उसका यह अर्थ नहीं लिया गया है। यहाँ तीर्थ का अर्थ है, धर्म संघ। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चार तीर्थ की स्थापना करने वाले महापुरुष को जैन धर्म में तीर्थंकर कहा गया है।

तीर्थंकर वही आत्मा होती है, जो राग द्वेष का क्षय कर, केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त कर लेती है, चार घातिकर्मों का क्षय कर अनेक विशिष्ट अतिशयों से युक्त होती है।

राग-द्वेष तथा चार घातीकर्मों का क्षय करने वाली आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कहलाती है, किन्तु हर सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं हो सकते।

केवलज्ञान आदि के अतिरिक्त उनमें कुछ अतिशय (विशिष्टता) होती है जो साधारण केवलज्ञानी में नहीं होती। केवल ज्ञानी एक अवसर्पिणी काल में लाखों करोड़ों हो सकते हैं, किन्तु तीर्थंकर सिर्फ २४ ही होते हैं।

यहाँ तीर्थंकरों के चरित्र में आई हुई कुछ विशेष बातों को विस्तार के साथ दिया जा रहा है, जो चरित्रों में सिर्फ संकेत मात्र में थी।

□आठ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय

(ये चार घाति कर्म है) वेदनीय, नाम, गोत्र आयुष्य (ये चार अघाति कर्म हैं),

☐ बारह गुण केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहता मे १२ गुण प्रगट होते हैं —

१ अनन्त ज्ञान,	७ दिव्य ध्वनि,
२ अनन्त दर्शन,	८ चामर,
३ अनन्त चरित्र,	९ स्फटिक सिंहासन,
४ अनन्त बल,	१० तीन छत्र,
५ अशोक वृक्ष,	११ आकाश मे देव दुदुभि,
६ देवकृत पुष्प वृष्टि,	१२ भामण्डल।

इनमे प्रथम चार आत्मशक्ति के रूप मे प्रगट होते हैं, तथा पाँच से बारह तक भक्तिवश देवताओ द्वारा किये जाते हैं। प्रथम चार को अनन्त चतुष्टय, तथा शेष आठ को अष्टमहाप्रातिहार्य भी कहते हैं।

☐ चौतीस अतिशय —प्रत्येक तीर्थंकर इन चौतीस अतिशयो से युक्त होते हैं —

१ केश रोमश्मश्रु, नही बढते,
२ शरीर रोग रहित रहता है।
३ रक्त और मास दूध के समान श्वेत होते हैं,
४ श्वासोच्छवास मे कमल सी मधुर गध,
५ आहार-नीहार विधि नेत्रो से अगोचर,

६-८ आकाश में छत्र चक्र श्वेत चामर रहता है।

९ स्फटिक सिंहासन,

१० इन्द्र ध्वज आगे आगे चलता है।

११ जहां जहाँ तीर्थंकर भगवान ठहरते हैं, वहाँ-वहाँ अशोक वृक्ष साथ रहता है।

१२ प्रभा मण्डल।

१३ तीर्थंकरों के चरण स्पर्श से भूमिभाग रम्य हो जाता है।

१४ कांटे ओंधे मुह हो जाते हैं।

१५ ऋतुएँ अनुकूल रहती हैं।

१६ सुखकारी पवन चलता है।

१७ भूमि की धूल जल बिन्दुओं से शान्त रहती है।

१८ पाँच प्रकार के अचित फूल का ढेर लगा रहता है।

१९-२० अशुभ शब्द, रूप, गन्ध रस, स्पर्श दूर हटते हैं और शुभ शब्द आदि प्रकट होते हैं।

२१ भगवान की वाणी एक योजन तक सुनाई देती है।

२२ भगवान का प्रवचन अर्ध मागधी ही में होता है।

२३ समस्त श्रोता अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं।

२४ भगवान के सान्निध्य में जन्मजात वैरी अपना बैर भूल जाते हैं।

२५ विरोधी भी नम जाते हैं।

२६ प्रतिवादी निरुत्तर हो जाते हैं।

२७-२८ भगवान के आस-पास पचीस योजन के परिमण्डल में ईति तथा मारी आदि नही होती।

२९-३३ जहा- जहाँ भगवान विहार करें वहाँ वहाँ स्वचक्र, पर-चक्र, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष नही होते।

३४ भगवान के चरण स्पर्श से उस क्षेत्र के समस्त उपद्रव शान्त हो जाते है।

—समवायाग सूत्र १११

दिगम्बर परम्परा मे ३४ अतिशयो को तीन वर्ग मे बाँटा गया है, १० शरीरातिशय, १० केवल ज्ञानातिशय और १४ देवकृत अतिशय—इस प्रकार चौंतीस अतिशय बताई गई हैं।

□पैंतीस वचनातिशय —तीर्थंकरो की वाणी मेघ सी गम्भीर होती है, और वह कभी निष्फल नही जाती। उनकी वाणी इन पैंतीस अतिशयो से सम्पन्न होती है —

१ लक्षण युक्त
२ उच्च स्वभाव युक्त
३ ग्राम्य शब्दो से रहित
४ मेघ जैसी गम्भीर
५ प्रतिध्वनि युक्त
६ सरल
७ राग (स्वर) युक्त
८ अर्थ की गम्भीरता युक्त

९ पूर्वापर विरोध रहित
१० शिष्टतासूचक
११ संदेह रहित
१२ पर दोषों को प्रगट नहीं करने वाली
१३ श्रोताओं के हृदय को आनन्दित करने वाली
१४ देश-काल के अनुरूप
१५ विवेच्य विषय का अनुसरण करने वाली
१६ परस्पर सम्बद्ध, और अतिविस्तार से रहित
१७ पद व वाक्यानुसारिणी
१८ प्रति पाद्य से बाहर न जाने वाली
१९ अमृत सी मधुर
२० ममघात से रहित
२१ धर्म-अर्थ रूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली
२२ अभिधेय अर्थ की गम्भीरता से युक्त
२३ आत्म प्रशंसा व परनिन्दा से मुक्त
२४ सर्वत्र श्लाघनीय
२५ कारक, लिंग आदि व्याकरण सम्मत
२६ श्रोताओं के मन में जिज्ञासा जागृत करने वाली
२७ अद्भुत अर्थ रचना में सक्षम
२८ विलम्ब दोष रहित
२९ विभ्रम दोष रहित
३० विचित्र अर्थवाली

३१ सामान्य वचन से कुछ विशेषता वाली
३२ वस्तु स्वरूप का साकार वर्णन प्रस्तुत करने मे समर्थ
३३ सत्य व ओजयुक्त
३४ स्व पर को खिन्न नही करने वाली
३५ विवक्षित अर्थ का सम्यक् व पूर्ण रूप से सिद्ध करने वाली

—समवायाग सूत्र

☐चौदह शुभ स्वप्न —तीर्थंकर का जीव जब माता के गर्भ मे आता है तो माता चौदह शुभ स्वप्न देखती है —

१ गज	६ चन्द्र	११ क्षीर समुद्र
२ वृषभ	७ सूर्य	१२ देव विमान
३ सिंह	८ ध्वजा	१३ रत्न राशि
४ लक्ष्मी	९ कुम्भ कलश	१४ निर्धूम अग्नि शिखा
५ पुष्प माला	१० पद्म सरोवर	

—कल्पसूत्र सूत्र ३३

☐बीस स्थान —तीर्थंकर रूप मे जन्म लेने से पहले तीर्थंकरो की आत्मा पूर्व जन्मो मे अनेक प्रकार के तप आदि का अनुष्ठान कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करती है। वह बीस स्थानो मे से किसी भी स्थान की उत्कृष्ट आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म बाधती है। वे बीस स्थान इस प्रकार हैं —

१ अरिहत की भक्ति
२ सिद्ध की भक्ति

३ प्रवचन की भक्ति
४ गुरु की भक्ति,
५ स्थविर की भक्ति,
६ बहुश्रुत (ज्ञानी) की भक्ति,
७ तपस्वी की भक्ति।
८ ज्ञान में निरन्तर उपयोग युक्त रहना,
९ सम्यक्त्व का निर्दोष आराधन करना
१० गुणवानो का विनय करना
११ विधिपूर्वक षडावश्यक करना
१२ शील एव व्रत का निर्दोष पालन
१३ उत्कट वैराग्य भावना
१४ तप व त्याग की उत्कृष्टता
१५ चतुर्विध सघ को समाधि उत्पन्न करना
१७ अपूर्व ज्ञान का अभ्यास
१८ वीतराग वचनो पर दृढ श्रद्धा
१९ सुपात्र दान
२० जिन प्रवचन की प्रभावना

—ज्ञाताधर्म०

तीर्थंकरो का काल और बारह चक्रवर्ती

१ भरत चक्रवर्ती	प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय मे
२ सगर "	द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के समय मे
३ मघवा	पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ जी और सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी के अन्तराल काल मे
४ सनत्कुमार	" "
५ शान्तिनाथ	स्वय सोलहवें तीर्थंकर
६ कुन्थुनाथ	स्वय सत्रहवें तीर्थंकर
७ अरनाथ	स्वय अठारहवें तीर्थंकर
८ सुभूम	अठारहवें व उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ जी के अन्तराल काल मे
९ पद्म	बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय मे
१० हरिषेण	इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय मे
११ जयसेन	नमिनाथ व अरिष्टनेमि के अतराल काल मे
१२ ब्रह्मदत्त	अरिष्टनेमि व पार्श्वनाथ के अतराल काल मे

तीर्थंकरों का काल और बलदेव वासुदेव आदि

बलदेव	वासुदेव	प्रति वासुदेव	समय
१ विजय	त्रिपृष्ठ	अश्वग्रीव	भ० श्रेयांसनाथ के शासन में
२ अचल	द्विपृष्ठ	तारक	भ० वासुपूज्य के ,,
३ सुधर्म	स्वयंभू	मेरक	भ० विमलनाथ ,,
४ सुप्रभ	पुरुषोत्तम	मधुकैटभ	भ० अनन्तनाथ
५ सुदर्शन	पुरुषसिंह	निशुम्भ	भ० धर्मनाथ के
६ नन्दी	पुरुष पुंडरीक	बलि	भ० अरनाथ व भ० ... नाथ के अन्तराल
७ नन्दिमित्र	दत्त	प्रह्लाद	,,
८ राम	नारायण (लक्ष्मण)	रावण	भ० मुनिसुव्रत व न... के ,,
९ पद्म	कृष्ण	जरासंध	भ० नमिनाथ के तीर्थ

भगवान महावीर पच्चीस सौ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

तीर्थंकर चरित्र

५

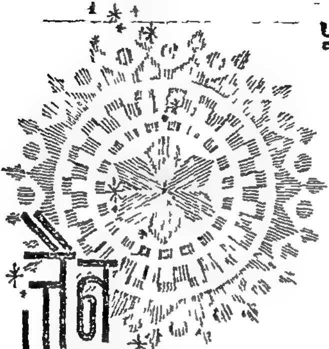

जैन कथामाला

लेखक-मधुकर मुनि

सम्पादक-श्रीचन्द सुराना 'सरस'

पुस्तक — जैन कथामाला भाग ५,
लेखक — श्री मधुकर मुनि जी महाराज
सम्पादक — श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक — मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर
प्रथम बार — अप्रैल १९७२
मूल्य — एक रुपया मात्र
मुद्रण व्यवस्था – संजय साहित्य संगम
बासबिल्डिंग नं० ५, आगरा-२
मुद्रक
रामजीकुमार सिंघहर,
मोहन मुद्रणालय
१२/३०८, भाई की मंडी

समर्पण

परम श्रद्धेय स्वामी जी
स्व० श्री हजारीमल जी महाराज
का,
जिनके सतत सान्निध्य में
मैंने
अपने जीवन का ऊर्ध्वगामी विकास किया।

—मधुकर मुनि

अपना पृष्ठ

जैन साहित्य का जिन चार अनुयोगों में बांटा गया है, उनमें एक है—धर्म कथानुयोग। धर्मकथा के द्वारा उपदेश, शिक्षा एवं प्रतिबोध देने की शैली बहुत प्राचीन है। प्राप्त आगमों की सूची के अनुसार भगवान महावीर की वाणी में जिन धर्मकथाओं का संकलन किया गया था, उनकी संख्या कई हजार थी, किन्तु आज बहुत-सी कथाएँ लुप्त हो गई हैं। ज्ञाता सूत्र, निरयावलिया एवं उपासकदशा, विपाकसूत्र आदि कुछ ही आगमों में गिनती की बहुत कम कथाएं बच पाई हैं। आगमों के बाद महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने प्राचीन जैन इतिहास की लुप्त होती कथाओं का अपने ग्रन्थों में संक्षिप्त रूप से लिख कर उनका अस्तित्व स्थिर कर दिया था। उनके पश्चात् आचार्य जिनदासगणी, संघदासगणी जैसे भाष्यकारों ने आचार्य अभयदेव, शीलांक, मानविजय जी जैसे टीकाकारों ने, आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र जैसे साहित्य-शिल्पियों ने तथा देशी भाषाओं (गुजराती, राजस्थानी) आदि के रास लेखक आचार्यों एवं विद्वानों ने इन बहुमूल्य कथाओं को साहित्यिक रूप देकर स्थिर भी रखा, और लोकजीवन के लिए प्रेरणा स्रोत भी बनाया।

प्राचीन जैन साहित्य में अध्येता विद्वानों का मत है कि

जैन साहित्य का कथा भंडार, सागरके अन्त स्तल की तरह असीम और अपरिमेय है।

बहुत समय से मेरी भावना थी कि हम वार्तालाप, प्रवचन, शिक्षा एवं उपदेश के समय जनता को जो कहानियां एवं चरित्र सुनाते हैं, उन्हें सुनकर श्रोता उस समय तो भाव विभोर हो जाते हैं, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका असर मिट जाता है। चूंकि कहानियां मौखिक होती है, और बहुत से लोग उन्हे सुन भी नही पाते और सुनने वाले भी अधिक याद नहीं रख पाते, अतः यदि उन्हें सरल भाषा मे लिखकर प्रकाशित किया जाय तो उसमे इन कहानियों एवं चरित्रों की आदर्श शिक्षा जनता में अधिक व्यापक और अधिक स्थायी बन सकती है।

श्री अमरभारती के योग्य सम्पादक एवं जैन साहित्य के मर्मज्ञ लेखक श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' से मैंने अपनी उक्त भावना की चर्चा की और इस कार्य मे सहयोगी बनने के लिए आमन्त्रित किया। मुझे प्रसन्नता है कि 'सरस' जी ने मेरी भावना का आदर किया और पूर्णशक्ति के साथ सहयोग देना भी स्वीकार किया है। मैंने अपनी लिखित, अलिखित सभी सामग्री उनके हाथो मे सौंप दी और संपादित कर प्रकाश मे लाने की जिम्मेदारी भी। मेरा विचार है सम्पूर्ण जैन साहित्य का आलोडन कर अमृतरूप मे जो-जो कहानियाँ, चरित्र एवं प्रेरक घटनाएँ हमे प्राप्त हो, उन सबको क्रमशः जनता के हितार्थ भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी के स्वान्त में एक सुन्दर कल्पना कई दिनों से स्फुरित हो रही थी कि एक ऐसी कथामाला का संयोजन की जाय—जिसमें जैनधर्म से सम्बन्धित प्रचलित प्राय सभी कथाएँ सरस और साहित्यिक शैली में जनता के सामने आ सकें।

मुनि श्री जी ने अपनी यह भावना 'श्री अमरभारती' के सहायक सम्पादक श्रीयुत श्रीचंदजी सुराना 'सरस' के सम्मुख रखी। उक्त विषय पर सरस जी के साथ विचार विनिमय करने के बाद यह निर्णय निकला कि पचास या इससे कुछ अधिक भागों में अपनी यह कल्पना पूर्ण की जा सकती है।

मुनि श्री जी की प्रेरणा पर 'सरस' जी ने कथामाला के सम्पादन का भार अपने ऊपर उठा लिया। अब इस कथामाला के लेखक हैं श्री मधुकरमुनि जी महाराज और सम्पादक हैं श्रीयुत 'सरस' जी।

मुनि श्री जी की भाषा सरल है और सरसजी की सम्पादन शैली सरस है। इस तरह सरलता व सरसता का यह सुन्दर संगम है।

कथामाला का प्रारम्भ जैन संसार की सुप्रसिद्ध सोलह सतियों के पवित्र चरित्र से किया गया। प्रथम तीन भाग में बीस सतियों की कथाओं के बाद अगले तीन भागों में चौबीस तीर्थंकरों की पावन प्रेरक एवं जीवन कथाएँ प्रकाशित की जा रही हैं।

तीर्थंकरों का पावन जीवन जैन ससार में अत्यत श्रद्धा का विषय है। उनका हिन्दी भाषा मे सरस व सुबोध शैली मे अब तक कोई सक्षिप्त जीवन चरित्र नही था। इन तीनो भागो के द्वारा इस अभाव की पूर्ति हो गई है।

चौथे भाग मे भगवान ऋषभदेव से शीतलनाथ तक का। पाचवे भाग मे भगवान श्रेयासनाथ से भगवान अरिष्टनेमि तक का और छठे भाग मे भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का ऐतिहासिक जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है।

कथाओ के आलेखन मे सुन्दर शैली को अपनाते हुए उसमे सरलता व सरसता की सुरक्षा का ध्यान पूर्ण रूप से रखा गया है।

इन सब भागों के सपादन-पारिश्रमिक का अर्थभार श्रीमान गुमानमल जी सा० चोरडिया (मद्रास) ने वहन किया है। अत हम आपके विशेष आभारी हैं। आप हमारी सस्था के अनन्य सहयोगी एव स्तम्भ रूप हैं।

अन्यान्य जैन सस्थाओ से भी जैनधर्म की कथाओ के प्रकाशन का प्रयास हुआ है और अभी भी हो रहा है, उसी दिशा मे हमारा भी यह एक पुनीत प्रयास है। आशा है हमारा यह प्रयास पाठकों की रुचि को सन्तुष्ट करेगा इसी विश्वास के साथ

ब्यावर
रक्षाबधन
वि० स० २०२८

—मन्त्री
सुगनचन्द कोठारी
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

अध्येता एवं प्रवक्ता हैं, बहुत समय से उनकी इच्छा थी कि जैन कहानियों को सरल व रोचक शैली में लिखकर क्रमशः प्रकाशित किया जाय, भले ही २५-३० या अधिक भाग तैयार हो सकें, किन्तु पूरा कथा साहित्य उसमें स्पृष्ट हो जाना चाहिए। इधर से मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी (तेरापंथी) ने जैन कहानियाँ नाम से लगभग २५ भाग लिखे हैं। राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमर मुनि जी के निदेशन में भी [illegible] कथामाला के नाम से पाँच भागों का सम्पादन मैंने किया था। इन प्रयत्नों से जनता में कहानी साहित्य को पढ़ने की रुचि जगी है।

मुनि श्री मधुकर जी स्वयं भी जैन कहानी साहित्य के विशेष मर्मज्ञ हैं, प्राचीन कथासाहित्य का गहरा अध्ययन है उनका। जब उनका आदेश निर्देश मिला, तो उनके प्रवचनों में आयी, वैसे ही लिखी गई तथा संकलित कहानियों का क्रमशः सम्पादन कर प्रस्तुत करने का मैंने उपक्रम शुरू किया है। कहानियाँ तो पुरानी ही हैं, और प्रायः प्रसिद्ध भी हैं, किन्तु फिर भी उनको सर्वथा नवीन भाषा शैली में मौलिकता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहा है। अतः मुझे विश्वास है पाठकों को इसमें नयी ताजगी और कुछ नये विचार सौरभ भी मिलेंगे।

मैं मुनि श्री मधुकर जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त स्नेह के साथ यह काम मुझे सौंपा है उनके साहित्य से मुझे सामग्री प्राप्त करने में काफी सुविधा रही है और मार्गदर्शन तो मिला ही है। साथ ही मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के अधिकारियों ने इस साहित्य को क्रमशः प्रकाशित करने का सद्संकल्प कर मुझे सम्पादन के लिए प्रोत्साहित भी किया है मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। आशा करता हूँ मेरा यह प्रयत्न पाठकों को रुचिकर लगेगा।

रक्षाबंधन
६-८-७१

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

समाज सेवा मे अग्रणी धर्मप्रेमी
श्री पारसमल जी घाघमार
कलकत्ता

आभार दर्शन

हमारे प्रकाशन सहयोगी

श्रीमान पारसमलजी बागमार

श्रीयुत बागमार जी मूलत: कुचेरा के निकटवर्ती लघुग्राम लूणसरा के निवासी हैं। इस समय आपका निवास स्थान कुचेरा ही है।

आपके स्व० दादाजी श्री इन्द्रचन्द्रजी बागमार अपने गाव के एक प्रमुख श्रावक एव सज्जन पुरुष थे। उनके चार पुत्र थे—पेमरचद जी सिमरथमल जी, शिवलालजी और धूकलचद जी। -

श्री पारसमल जी धूकलचद जी के कनिष्ठ पुत्र हैं। आपके बडे भाई हैं श्री भेरूबक्सजी। ,

आप बचपन से ही व्यापार क्षेत्र मे चले गये थे। प्रारम्भ मे रग पुर (वर्तमान बगला देश) जिला के अन्तर्गत गाइबधा मे आपने अपना व्यवसाय स्थापित किया था। वहा अच्छी सफलता प्राप्त की, किंतु पाकिस्तान बनने के समय आपको वहा से हटकर कलकत्ता आना पडा। पुन वही पर आपने व्यवसाय प्रारम्भ किया। कलकत्ता के जूट व्यवसाय मे आप जाने माने प्रतिष्ठित कमीशन एजेंट हैं। ईमानदारी, लगन और पुरुषार्थ से आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है। आज कुचेरा के सम्पन्न परिवारो मे आपकी गणना है।

आप बडे ही भावनाशील, श्रद्धालु और सामाजिक कार्यों म रुचि रखने वाले उदार सद् गृहस्थ हैं। धनी होकर भी विनम्र, दानी होकर

भी निरभिमान रहने वाले व्यक्ति कम मिलते हैं आप उन्ही में एक हैं।

कुचेरा में जब से स्वामी श्री [illegible]जमलजी म० सा० स्थिरवास विराजमान हैं तभी से यहां अतिथि-सत्कार के लिए कार्य की व्यवस्था है। इस व्यवस्था में जो प्रमुख सहयोगी हैं, उनमें श्री [illegible] का भी नाम लिया जा सकता है। आप स्वयं अतिथि सत्कार में विशेष रुचि रखते हैं। कुचेरा में चल रहे श्री [illegible] जैन छात्रावास तथा पाठशाला में भी आपका विशेष सहयोग प्राप्त होता रहा है।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के आप स्तम्भ सदस्य हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में आपने विशेष दिलचस्पी लेकर [illegible]५१) रुपये का उदार अर्थ सहयोग दिया है। इसके लिये संस्था आभारी है। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे आगामी प्रकाशनों में भी आपका इसी प्रकार सहयोग अवश्य प्राप्त होगा।

मंत्री

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर

जैन कथामाला भाग पाँचवां

अनुक्रम

११	भगवान श्रेयासनाथ	१
१२	भगवान वासुपूज्य	७
१३	भगवान विमलनाथ	१७
१४	भगवान अनन्तनाथ	२३
१५	भगवान धर्मनाथ	२८
१६	भगवान शान्तिनाथ	३३
१७	भगवान कुंथुनाथ	४५
१८	भगवान अरनाथ	४९
१९	भगवान मल्लिनाथ	५३
२०	भगवान मुनिसुव्रत	६६
२१	भगवान नमिनाथ	७०
२२	भगवान नेमिनाथ	७३

११

भगवान श्रेयांसनाथ

सारिणी

जन्मस्थान	सिंहपुरी
पिता	विष्णुराजा
माता	विष्णुदेवी
जन्मतिथि	भाद्रपद वदि १२
दीक्षा तिथि	फाल्गुन वदि १३
केवलज्ञान	माघ वदि १५
शिष्य सम्पदा	चौरासी हजार श्रमण एक लाख तीन हजार श्रमणी ।
चिह्न	गेंडा
निर्वाण तिथि	श्रावण वदि ३

मनुष्य के सामने दो मार्ग है, एक है श्रेय का—आत्म-साधना के द्वारा आध्यात्मिक आनद प्राप्त करने का और दूसरा है—प्रेय का, भौतिक वस्तुओ के उपभोग मे क्षणिक बाह्य आनन्द

अभिनिष्क्रमण किया, आत्मसाधना के महापथ पर प्रस्थान किया।

दीक्षा के दिन प्रभु बेले के तप में थे। दीक्षा लेते ही वे ध्यान में समाधिस्थ हो गये। दूसरे दिन बेले का पारणा किया और फिर ध्यान, समाधि में लीन हो गये। उत्कृष्ट ध्यान करते हुए दो मास तक वे छद्मस्थ दशा में रहे। साधना काल में न किसी से बोले, न किसी का सहयोग लिया। बस, सिंह की भाँति एकाकी, अनपेक्ष और अपने ही ध्यान में मग्न विचरते रहे।

दो मास पश्चात् वे एक दिन पुनः बेले की तपस्या किये हुए शुक्लध्यान में लीन हो रहे थे। ध्यान की प्रचण्ड अग्नि में कर्म दल भस्मसात् होते गये, ज्ञानावरण आदि चार घाति कर्मों का नाश हुआ, प्रभु श्रेयांसनाथ केवलज्ञान, केवलदर्शन के धारक अरिहन्त हो गये। हजारों नर-नारी उनके दर्शनों को आये। प्रभु ने परिषद् को धर्म देशना दी। चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना हुई।

ग्राम-नगर सर्वत्र भगवान श्रेयांसनाथ के उपदेशों की वर्षा होने लगी।

एक बार श्रेयांसनाथ प्रभु उस समय की राजनीति के केन्द्र पोतनपुर में पधारे। पोतनपुर त्रिपृष्ठ वासुदेव की राजधानी थी। उद्यान के रक्षक मालियों ने आकर वासुदेव को शुभ संवाद दिया—'महाराज! तीर्थंकर श्रेयांसनाथ अपने नगर

के उद्यान मे पधारे है।" अचानक यह शुभ सवाद सुनकर वासुदेव हर्ष विभोर हो गये। इस खुशी मे उन्होने इतना पुरस्कार दिया कि माली मालामाल हो गया। वासुदेव और उनके बड भाई अचल बलदेव प्रभु के दशन करन आये। प्रभु ने मानव के कत्तव्यो का विवेचन-विश्लेषण करते हुए हृदय-स्पर्शी उपदेश दिया।

वासुदेव त्रिपृष्ठ इस कालचक्र के पहले वासुदेव थे। वे अत्यन्त पराक्रमी और कठोर शासक थे। उनकी भुजाओ मे अदभुत बल था। एक बार एक भयकर क्रूरसिंह से नि शस्त्र होकर मुकाबला किया और सिंह के जबडे पकडकर यो चीर डाले जैसे कोई पुराना कपडा चीर रहे हो। उस समय के क्रूर और अत्याचारी शासक अश्वग्रीव (प्रतिवासुदेव) के आतक से प्रजा को मुक्त कर वे तीन खण्ड के एकछत्र सम्राट वासुदेव बने थे।[1]

जब वासुदेव त्रिपृष्ठ ने प्रभु श्रेयास नाथ की देशना सुनी तो सहसा एक प्रकाश-सा उनके हृदय मे छा गया। राजनीति के वे धुरधर थे, किन्तु आत्म-विद्या मे आज भी बालक थे। प्रभु का उपदेश सुनकर दया, करुणा, ममता और भक्ति के भाव उनके हृदय मे जग पडे। सस्कारो के इस परिवतन से

---

१ त्रिपृष्ठ वासुदेव का विशेष वर्णन देखिये भगवान महावीर के जीवन चरित्र मे।

वासुदेव के अन्तर जगत में अपूर्व परिवर्तन आ गया। वे अंधकार से प्रकाश में आ गये।

बलदेव और वासुदेव, दोनों ने ही सम्यक्त्व ग्रहण किया। हजारों स्त्री-पुरुषों ने भी सम्यक्त्व, गृहस्थ धर्म तथा मुनि धर्म आदि स्वीकार कर प्रभु के उपदेश को जीवन में साकार उतारा।

इस प्रकार प्रभु श्रेयांसनाथ की वाणी का प्रभाव, साधारण मानस से लेकर राजनीति के सर्वोच्च केन्द्र तक एक समान भाव से छाया हुआ था।

अन्त समय में मासिक अनशन के साथ प्रभु ने निर्वाण प्राप्त कर सदेह-ईश्वर से विदेह ईश्वर—(अशरीरी सिद्ध) बन गये।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ४/१

१२

भगवान वासुपूज्य

● सारिणी

जन्मस्थान	चम्पानगरी
पिता	वसुपूज्य राजा
माता	जयारानी
जन्मतिथि	फाल्गुन कृष्णा १४
दीक्षा तिथि	फाल्गुन कृष्णा १५
केवलज्ञान	माघ सुदि २ (गुलाब न वृक्ष के नीचे)
शिष्य सम्पदा	बहत्तर हजार श्रमण एक लाख श्रमणी ।
चिह्न	महिष
निर्वाण तिथि	आषाढ सुदि १४

चंपापुरी आज देवपुरी से होड ले रही थी। स्थान-स्थान पर वदन वारें टगी थी, पताकाएँ फहर रही थी, हर राजमार्ग पर उत्सव हो रहे थे, नृत्य मण्डलियाँ नाच रही थी, सगीत की

मधुर ध्वनियों से वातावरण आनन्दमय बन रहा था। लोग एक दूसरे को मिठाइयाँ बाँट रहे थे, कुल वधुएँ परस्पर मिल-जुल मंगल गीत गा रही थी और एक दूसरे को हर्ष बधाइयाँ दे रही थी। नगर के श्रेष्ठी, व्यापारी और विदेशी व्यवहारी नाना प्रकार के उपहार सजाकर महाराज वसुपूज्य को पुत्र-जन्म की बधाई देने राजसभा में आ रहे थे, दूर-दूर के मित्र राजाओं की ओर से सैकड़ों घुड़सवार सुभट स्वर्ण थालों में विविध उपहार सजाकर लाये थे, जो महाराज के समक्ष भेंट किये जा रहे थे। हर्ष विभोर हुए महाराज वसुपूज्य सबका स्वागत सत्कार करते हुए यथोचित उपहार स्वीकार कर रहे थे। समागत जनों को स्वागत के साथ महाराज की ओर से उचित स्वागत-सम्मान और पुरस्कार दिया जा रहा था। हजारों दीन-याचकों को षट रस मधुर भोजन कराया जा रहा था और कारागार से सैकड़ों बंदियों को आज की खुशी में मुक्त कर उन्हें अपने-अपने घर भेजा जा रहा था। नगर में सर्वत्र आनन्द ! उत्सव ! और बधाइयों की लहर चल रही थी। नृत्य-गान का मधुर स्वर गूंज रहा था।

महाराज वसुपूज्य की अत्यन्त सम्माननीया रानी जया ने एक महान् तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया था। इसी खुशी में राज्य भर में दस दिन तक आनन्दोत्सव मनाया गया था। बारहवें दिन उत्सव की पवित्रता में पुत्र का नामकरण किया गया— वासुपूज्य !

कुमार वासुपूज्य का सौन्दर्य अद्भुत था। उनके शरीर की

त्वचा बडी चमकीली, रक्तकमल की सी लाल-गुलाबी काति लिए बडी मनोहर लगती थी। वाणी तो इतनी मीठी कि मिश्री भी उसके सामने फीकी लगे। आनन्द के मधुर वातावरण मे बालक कल्पवृक्ष की भाँति वृद्धि पाता हुआ यौवन के द्वार पर पहुँचा। राजा-रानी हजारो कल्पनाएँ, मधुर आशाएँ लगाये वासुपूज्य के योग्य परम लावण्यवती राज कन्याओ की खोज करने लगे। पता लगतेही दूर-दूर से राजाओ के आमन्त्रण आने लगे और राजकुमारियो के चित्र लेकर सैकडो दूत चम्पानगरी के राज दरबार मे पहुच गये। वासुपूज्य जैसे प्रतापी, तेजस्वी और महान प्रतिभा पुज राजकुमार के साथ अपनी कन्या का सम्बन्ध करने हजारा राजा लालायित हो रहे थे। जिस राजकुमारी ने भी वासुपूज्य का चित्र देखा या वर्णन सुना बस वह उनकी ओर खिच गई, ऐसा पति पाने के लिए कोई गन्धर्व की मनौतिया करने लगी, कोई कामदेव की और कोई शिव की। मन ही मन सोते-जागते 'वासुपूज्य' की छवि हृदय मे उतारकर उसे ही ध्याने लगी।

युवराज वासुपूज्य ने राजधानी मे जब यह हलचल देखी, राजमहल मे सैकडो राजकुमारियो के हाव-भाव पूण सुन्दर चित्र देखे, तो उन्हे माता-पिता की उमगो व मधुर आशाओ की एक स्पष्ट कल्पना होने लगी। उनका सकल्प था, अविवाहित रहकर दीक्षा लेने का और इधर तैयारी हो रही थी उनके विवाह की।

एक दिन कुमार ने माता-पिता को प्रसन्न मुद्रा मे बठे

देखकर कहा—"आप क्या तैयारियाँ कर रहे हैं ? किस उमंग में यह सब हो रहा है, क्यों इन राजकुमारियों के चित्र यहाँ जमा किये जा रहे हैं, क्या कोई चित्र प्रदर्शनी होने वाली है ? या कोई सौन्दर्य-प्रतियोगिता ?"

माता ने अत्यन्त वात्सल्य के साथ पुत्र के सिर पर हाथ फिराकर कहा—"बेटा ! यह सब तेरे लिए लालायित हो रही हैं ? लाल ! तू इनमें से किसी को पसन्द करता है ? हम तेरा विवाह करेंगे, लक्ष्मी सी बहूरानी आयेगी, यह इस घर की शोभित करेगी, तू पिता के राज्य की रक्षा करेगा।"

"और तब आप ?"—हँसते हुए कुमार ने पूछा।

"हम तो बेटा, वृद्ध हो गये हैं, अब अवस्था पक गई है, बुढ़ापे में शान्ति के साथ जीवन बिताना है, अतः संसार त्याग कर दीक्षा लेंगे और संयम की साधना करेंगे।"—राजा ने उत्तर दिया।

"पिताजी ! क्या यह शान्ति बुढ़ापे में ही अच्छी लगती है ? जिस शान्ति की कामना आप करते हैं, क्या मैं नहीं कर सकता और जिस राज्य का, संसार का, आप एक अशान्ति का झंझट, एक प्रकार [illegible] समझकर छोड़ रहे हैं क्या मैं उसमें सुख पाना चाहूँगा ?" "नहीं ! पिताजी ! मैं इस अशान्ति का सिर पर लेना नहीं चाहूँगा। क्या अर्थ की [illegible] और [illegible] का विस्तार ?" [illegible] इस प्रकार के [illegible] विचार [illegible] और फिर [illegible]

पाने का प्रयत्न करूँ ? नहीं ! माताजी ! मैं विवाह नहीं करूँगा ? न राज्य भार सभालूगा ।"

राजा रानी चकित से, स्तम्भित से हुए युवराज का मुह (दे)खने लगे—"बेटा ! तू यह क्या कह रहा है ? चढ़ती जवानी (मे) ये बुढ़ापे की बातें अच्छी नहीं लगती। देख ! हमने तो तुम्हारे लिए कितने सपने सजोये थे ? कितनी मीठी उमगो से दिल बहला रहे थे ! क्या तू उन सब पर पानी फिरा देगा ? हमारे सपनो को मिट्टी मे मिला देगा ? नहीं ! वासु ! ऐसा मत सोचो !"

कुमार वासुपूज्य ने माता-पिता को धीरज बधाते हुए कहा—"आप ऐसा न सोचिए ! ये मीठी कल्पनाएँ, ये सुख-स्वप्न सब मोह जाल है, आसक्ति है, बन्धन है ! यह मोह की मदिरा क्षणिक सुख के बाद अत्यन्त त्रास और पीडा देने वाली है। मैंने तो बहुत पहले से ही सकल्प कर रखा है, अविवाहित रहकर ही दीक्षा लेना है। आप इसमे बाधा न डालिए।"

इतिहास के प्राचीन उदाहरण देते हुए राजा ने कहा—"बेटा ! तुम्हे दीक्षा लेनी हो तो भले ही लेना, किन्तु विवाह करके लो, हमारी परम्परा भी ऐसी ही चली आई है, तुम स्वय विज्ञ हो, तुम जानते हो, भगवान ऋषभदेव पहले तीर्थकर हुए, तुम्हारी भाँति वैराग्य और अनासक्ति के सस्कार उनके हृदय मे भी थे। किन्तु ससार की रीति, मर्यादा के पालन हेतु पिता की आज्ञा से उन्होने विवाह किया, सन्तान उत्पन्न की,

राज्य सम्भाला और अन्त मे जब समय आया तब अपने पुत्र भरत को राज्य भार सौपकर दीक्षा ग्रहण कर मार्ग पार किया। अजितनाथ प्रभु से श्रेयास नाथ तक के जितने तीर्थंकर हुए सभी ने इस परम्परा का पालन किया है, तुम भी तीर्थंकर होने वाले हो, फिर इस परम्परा का पालन क्यो नहीं करते ?"

"पिताजी ! क्या यह आवश्यक है कि पूर्वजो ने जैसा किया वैसा ही करना ? उससे भिन्न, नवीन कुछ भी नही करना। बुद्धिमान पुरुष लकीर के फकीर नही होते। भविष्य मे होने वाले मल्लिनाथ, नेमिनाथ आदि तीर्थंकर भी विवाह किये बिना ससार त्याग करेंगे फिर परम्परा की बात कहाँ रही। विवाह आदि तो आत्मा के मोह कर्म पर निर्भर है। यदि मोह कर्म पहले ही क्षीण हो गया हो, तो विवाह का कोई हेतु ही नही रह जाता। अत मोक्ष साधना का कोई एक ही मार्ग नही है, वृद्धावस्था मे भी ससार त्याग किया जाता है और युवावस्था मे भी। निश्चय दृष्टि से मेरे भोग्य कर्म अवशेष नहीं रहे, अत ससार के मोह-बन्धन मे मुझे बँधने का प्रयोजन नही रहा, आप मुझे स्वीकृति दीजिये।"—कुमार ने अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा।[1]

---

१ आचार्य शीलांक का मत है कि वासुपूज्य प्रभु ने माता पिता के आग्रह को सम्मान देकर विवाह कर लिया और कुछ काल राज्य शासन कर फिर दीक्षा ग्रहण की। देखें—चउप्पन्न महा पृ० १०५,

कुमार की बातें सुनकर माता-पिता की आँखो स सावन की झडी बरसने लग गई। प्यार और मोह भरी बाते कहकर कुमार को वे विवाह के लिए राजी करना चाहते थे। किन्तु कुमार वासुपूज्य अपने निश्चय मे सुमेरु मे स्थिर थे फिर भी माता-पिता के हृदय को एकदम चोट न लगे इसलिए उन्होने धीरज के साथ समझाया, अपने तीव्र वैराग्य और भोग-विरक्ति की बात बताई।

माता-पिता स्नेह विगलित होकर रो पडे—"हम बुढापे मे ससार मे बैठे हैं, और तरुण पुत्र भोग समय मे वैरागी बनकर दीक्षा ले रहा है।" पर क्या उपाय ! पुत्र के आग्रह को अतिम उपाय तक भी टाला नही जा सका तो फिर अधिक खीचने से क्या लाभ ! माता-पिता ने दीक्षा की स्वीकृति दी, विवाहोत्सव की जगह दीक्षा महोत्सव की तैयारिया होने लगी। वर्षीदान देकर कुमार वासुपूज्य ने घर से निष्क्रमण किया। उनके उत्कट वैराग्य भाव से प्रेरित होकर छहसौ अन्य पुरुषों ने भी उनका अनुगमन किया, वे भी दीक्षा लेकर साधना करने लगे।

एक मास तक छद्मस्थ अवस्था मे रहने के बाद प्रभु वासुपूज्य केवलज्ञान प्राप्तकर भाव तीर्थंकर बने। तीर्थंकर काल मे उन्होने दूर-दूर तक विहार किया व अनेक राजाओ, व सामान्य जनो का प्रतिबोध दिया।

एक बार प्रभु वासुपूज्य विहार करते हुए द्वारिका मे

पधारे। उस समय वहाँ पर द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ठ का शासन था। वासुदेव को प्रभु के आगमन की सूचना मिली तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। अपने परिवार के साथ वासुदेव प्रभु की देशना सुनने गये। प्रभु वासुपूज्य ने कषायों की विजय का उपदेश देते हुए क्षमा का गम्भीर उपदेश किया। वासुदेव का हृदय गद्गद हो उठा। देशना के पश्चात् वे प्रभु के निकट आये और बोले—"प्रभो! अभी कुछ समय पूर्व भरत क्षेत्र में तारक नामक प्रतिवासुदेव हो गया है। उसके मन में मेरे प्रति अत्यन्त द्वेष और घृणा थी, उसने बड़ी क्रूरता के साथ मेरी प्रजा को सताया, अन्त में क्रोध खाकर हमने युद्ध किया और मैंने उसे समाप्त कर डाला। तो प्रभो! क्या उसके मन में मेरे प्रति कोई पूर्व जन्म का वैर और शत्रुता थी?"

वासुदेव के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु ने कहा—"देवानुप्रिय! ऐसा ही था। तारक प्रतिवासुदेव का जीव पूर्व जन्म में विन्ध्यशक्ति नामक एक क्रूर दुःसाहसी राजा था और तुम पर्वत नाम के एक सामान्य राजा थे। पर्वत के राज्य में अद्भुत रूप-यौवन सम्पन्न तथा नृत्य एवं कामकलाओं में कुशल गुणमंजरी नाम की एक गणिका थी। विन्ध्यशक्ति उसके रूप पर मुग्ध हो उठा। उसने पर्वत से गुणमंजरी की याचना की और न देने पर युद्ध की धमकी भी दी। पर्वत राजा ने उसके दूत को सभा में ही फटकार के कहा—"जो दुष्ट एवं कामान्ध राजा अपने राज्य की सुन्दरियों से तृप्त नहीं होकर अन्य राज्याश्रित सुन्दरियों की याचना करने में भी लज्जा का अनु-

भव नही करता, उसे धिक्कार है। ऐसे कामी राजाओ को, सुन्दरी नहीं, किन्तु उदरी मिलनी चाहिए।"

इस फटकार से क्रुद्ध हो, विंध्यशक्ति ने पर्वत पर आक्रमण कर दिया। उसके पास अपार सैन्य वल था, पर्वत उसके समक्ष टिक नही सका। विंध्यशक्ति गुणमजरी को अपने महलो मे ले गया। इस ससार मे तो–जिसकी लाठी उसकी भैंस–जिसके पास शक्ति होती है वह जो चाहे कर सकता है।

पराजित होकर पर्वत वहुत दुखी हुआ। विंध्यशक्ति के दुष्ट व्यवहार पर उसका हृदय आग-आग हो रहा था। उसने दुखी होकर दीक्षा ले ली। किन्तु विंध्यशक्ति के प्रति उग्र क्रोध शान्त नही हुआ। कठोर तप करके अन्त मे उसने नियाणा—सकल्प किया—"मैं अगले जन्म मे विंध्यशक्ति का वदला लेने वाला वनू।"

उस जन्म मे किये गये तप के प्रभाव मे तुम (पर्वत का जीव) यहा वासुदेव वने। विंध्यशक्ति का जीव तारक प्रति-वासुदेव हुआ और पूर्व वैर एव कृत-निदान के कारण तुम्हारे हाथो उसका अन्त हुआ। वैर और शत्रुता के सस्कार जन्म-जन्म तक चलते रहते है।"

प्रभु का उपदेश सुनकर वासुदेव का जन्मानुबधी क्रोध शान्त हुआ। उन्होने सम्यक्त्व ग्रहण की। वासुदेव के ज्येष्ठ वन्धु विजय वलदेव ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

प्रभु वासुपूज्य दीर्घकाल तक इस प्रकार धर्म देशना के द्वारा विश्व का कल्याण करते हुए अन्त मे पुन अपनी जन्मभूमि मे पधारे । वहा अन्तिम अनशन मे प्रभु का निर्वाण हुआ ।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ४।२

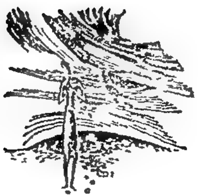

१३

भगवान विमलनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	कंपिलपुर
पिता	कृतवर्मा
माता	श्यामादेवी
जन्मतिथि	माघ शुक्ला ३
दीक्षा तिथि	माघ शुक्ला ४
केवलज्ञान	पौष शुक्ला ६
शिष्यसम्पदा	अडसठ हजार श्रमण एक लाख आठसौ श्रमणी ।
चिह्न	शूकर
निर्वाण तिथि	आषाढ कृष्णा ७

कंपिलपुर का राजा कृतवर्मा भरत क्षेत्र का एक प्रभावशाली राजा था। जितनी उसके पराक्रम की ख्याति थी उससे भी अधिक उसकी सज्जनता की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई

दिन वेले में तप मे प्रभु ध्यान मुद्रा मे स्थिर हुए घातिकर्म का क्षयकर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। जिस लक्ष्य को लि चले थे उस पर पहुँच गये।

सर्वज्ञ प्रभु की देशना सुनने के लिए असख्य मानव मण्डि उमड पडती है। स्वर्ग के देव और देवेन्द्रो के समूह भगवान् चरणो मे आ-आकर बद्धाजलि होकर बैठ जाते है और प्र धीर-गम्भीर देशना देते है।

तीर्थंकरो की वाणी अमोघ होती है, वह कभी निष्फल न जाती। उसमे साधना का अद्भुत चमत्कार होता है जो सुन है, एक वार उसका हृदय बदल ही जाता है। प्रभु की देश सुनकर हजारो नर-नारियो के हृदय बदल गये। हृदय ब गया तो जीवन भी बदल जाता है, और जीवन बदल गया जगत भी बदल जाता है। तो उन हजारो नर-नारियो जीवन बदल गया और जगत भी बदल गया, कई मुनि स्वीकार कर कठोर साधना के पथ पर चल पडे और गृहस्थ जीवन मे रहकर भी धर्म की साधना करने लगे। प्रकार साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थ की स्था पना हुई। प्रभु विमलनाथ तेरहवे तीर्थकर हुए।

एक वार प्रभु विमलनाथ द्वारिका मे पधारे। वहाँ पर स्वयभू वासुदेव राज्य कर रहे थे। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर वासुदेव सपरिवार दर्शन करने के लिए आये। वासुदेव ने सर्वज्ञ प्रभु के समक्ष एक जिज्ञासा प्रस्तुत की, अपने ही विषय मे।—प्रभो! मेरक राजा (प्रतिवासुदेव) के प्रति मेरे मन मे

इतना द्वेष क्यो था, कि मैं उसके शौर्य व प्रभाव को बिल्कुल सहन नही कर सका, और उसे युद्ध मे समाप्त करके ही मेरे मन को प्रसन्नता हुई। क्या हमारी यह शत्रुता पूर्व जन्मो से चली आई है ?"

प्रभु विमलनाथ ने कहा—हा! वासुदेव! पूर्व जन्म क वैर ही यहाँ तुम्हारी शत्रुता का कारण बना है!

प्रभो! वह सुनना चाहता हूँ! कृपा कीजिए! वासुदेव की प्रार्थना पर प्रभु ने कहा—"एक बार किसी नगर मे धनमित्र नाम का राजा था। उसका एक घनिष्ठ मित्र था बलि! बलि भी एक छोटा राजा था, पर किसी कारण उसका राज्य हाथ से निकल गया। धनमित्र ने आडे वक्त मे उसे सहयोग किया, सच्ची मित्रता का परिचय देकर उसे अपने राज्य मे ही पूरा सम्मान देकर मित्र की भाँति रखा।

बलि मन का बडा मैला था। एक बार दोनो मित्र जुआ खेल रहे थे। धनमित्र ने दाव पर अपना राज्य लगा दिया। बलि जीत गया। उसने धनमित्र को दर-दर का भिखारी बनाकर राज्य से निकाल दिया।

राज्य भ्रष्ट धनमित्र बहुत दु खी हुआ। वह सोचने लगा—"जिस साप को दूध पिला-पिलाकर मैंने पाला, उसी ने मुझे जहरीले डक मार दिये।" बलि के प्रति उसके मन मे अत्यन्त द्वेष और आक्रोश भरा था। एक बार किसी आचार्य की सगति पाकर धनमित्र भिक्षु बन गया। उसने साधना की। किन्तु बलि के प्रति उसके मन मे वही आग भडक रही थी।

साधना काल मे ही उसने निदान किया—"मैं इस जीवन में अपना बदला नही ले सका, किन्तु मेरी साधना का फल हो तो अगले जन्मो मे अवश्य ही इस वैर का बदला लूगा।"

अन्तिम जीवन मे बलि ने भी कुछ तपस्या, काय क्लेश आदि किये। दोनो ही मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग मे गये और वहाँ से आयुष्यपूर्ण कर धनमित्र का जीव, तुम स्वयभू वासुदेव के रूप मे आये, बलि का जीव मेरक प्रति वासुदेव के रूप में इस प्रकार पूर्व जन्म की शत्रुता द्वेष और अमर्ष के कारण यहाँ तुम्हारा सघर्ष हुआ।

इस घटना के प्रकाश मे प्रभुने क्षमा, शान्ति और समता का गम्भीर उपदेश दिया। उपदेश मे प्रभावित होकर वासुदेव स्वयभू ने अपने पूर्व द्वेष का परिहार किया, वैर की गाँठ खोल दी, मन की इस निर्मलता के कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वासुदेव के बडे भाई बलदेव सुधर्म ने श्रावक धर्म स्वीकार किया।

प्रभु विमलनाथ ने जीवन को विमल, आत्मा को उज्ज्वल बनाने वाले धर्म का उपदेश करते हुए हजारो, लाखों प्राणियों को उद्बोधित किया। अन्तिम समय मे प्रभु अनशन कर देह त्याग और परम पद को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ४।३

□□

१४ भगवान अनन्तनाथ

● सारिणी

जन्म स्थान	अयोध्या नगरी
पिता	सिंहसेन
माता	सुयशा
जन्मतिथि	वैशाख वदि १३
दीक्षा तिथि	वैशाख वदि १४
केवलज्ञान	वैशाख वदि १४
शिष्यसम्पदा	छासठ हजार श्रमण बासठ हजार श्रमणी
चिह्न	बाज
निर्वाण तिथि	चैत्र सुदि ५

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह लघु से विराट् बने, बिन्दु से सिंधु बने और क्षणिक सुखो की जगह अनन्त सुखों को प्राप्त करें। सान्त से अनन्त की यात्रा ही मनुष्य जीवन का मुख्य

लक्ष्य है। प्रभु अनन्तनाथ ने इसी अनन्त यात्रा को सुखद बनाने का उपदेश मानव जाति को दिया। आइये, उनके जीवन की संक्षिप्त झाँकी देखें।

बहुत समय पहले अयोध्यानगरी में सिंहसेन नाम का प्रतापी राजा था। राजा बड़ा नीतिज्ञ और बुद्धिमान था। वह धर्म, अर्थ और काम तीनों का संतुलित और व्यवस्थित पालन करता था।

एक बार राजा की परम प्रीति पात्र सुयशा रानी ने रात्रि में चौदह महान स्वप्न देखे। उस समय की मर्यादा के अनुसार राजा-रानी सभी अलग-अलग शयन कक्ष में सोते थे। रानी इन महान दिव्य स्वप्नों को देखकर बड़ी चकित हुई। उठकर राजा के पास आई और स्वप्नों की चर्चा करते हुए बोली—"महाराज! मैंने ऐसे दिव्य स्वप्न आज पहली बार देखे हैं। इन स्वप्नों के कारण मेरे हृदय में अपूर्व उत्साह और आनन्द उमड़ रहा है। ऐसा लग रहा है जैसे कोई अक्षय आनन्द निधि मुझे प्राप्त हो गई है।"—राजा ने देखा रानी का अंग अंग पुलक रहा है।

प्रसन्न होकर राजा ने कहा—"महान भाग्यशाली रानी! ऐसे स्वप्न संसार में कभी कदापि कोई पुण्यवती स्त्री देखती है। धर्म शास्त्र और कामशास्त्र के अनुसार इन स्वप्नों का फल है—किसी त्रिभुवन विजयी पुत्र का जन्म। तुम किसी महा पुरुष की माता बनोगी।"

राजा का कथन सुनकर रानी हर्ष विभोर हो उठी। उसके कण-कण से खुशिया टपकने लगी। वह पुन अपने शयन कक्ष मे लोट गई और प्रभु स्मरण करने लगी।

कुछ दिन बाद रानी को लगने लगा—उसके तन मे ही नही, किन्तु मन और जीवन मे भी एक अद्भुत परिवर्तन आने लगा है। उसने राजा से इस परिवर्तन की चर्चा की, तो राजा ने समाधान देते हुए कहा—"देवी! ऐसा होता ही हे। कहा तो जाता है माता के सस्कारो का प्रभाव सन्तान पर पडता है, किन्तु इससे भी ज्यादा यह तथ्य सत्य है कि गर्भस्थ बालक के सस्कारो का असर माता के चरित्र पर भी पडता है। यह बालक भविष्य मे कैसा होगा, यह बात तुम अनुभव करने लगी होगी?"

"हा, महाराज! अब मेरे मन मे भोगो से तो बिलकुल विरक्ति हो रही है, रात दिन प्रभु भक्ति करते रहना, गरीबो पर करुणा व दया करना, याचको को दान देना हर किसी के साथ मीठा बोलना, और ऐसे ही पवित्र विचार मन मे उठते रहते है। ऐसा लगता है मैं क्या से क्या हो गई? कितनी शान्ति और कितना आनन्द अनुभव होता है, मुह से कुछ बता नही सकती।"—रानी ने गद्गद् होकर कहा।

ऐसे पवित्र विचारो मे विहरण करती हुई रानी सुयशा ने समय पर एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। जन्मोत्सव

की अपार खुशियों के बीच राजा ने पुत्र का नामकरण किया-अनन्तजित् ।

कुमार अनन्तजित युवा हुए । माता पिता की आशाओं का वह केन्द्र थे । स्वय विज्ञ और सब कुछ जानते हुए भी वे माता पिता की आज्ञा के बिना कुछ भी नही करते और न उनकी आज्ञा का उल्लघन ही कभी करते । माता-पिता के अत्याग्रह के कारण ही विवाह स्वीकार किया और उनके हृदय को प्रसन्न रखने के लिए ही राज्य-सत्ता सम्भाली । अनन्तजित् का बाहु बल तो अनन्त-अपार था ही, किन्तु इस बल को कभी किसी के उत्पीडन मे नही लगाया, किन्तु राष्ट्र की रक्षा और प्रजा की सुख-समृद्धि मे ही वे अपनी शक्ति का उपयोग करते रहे।

महाराज अनन्तजित् के पुत्र भी युवा हुए तो उन्होंने पुत्रों के कधो पर राज्य भार देकर स्वय आत्म-साधना करने के लिए दीक्षित हो गये । तीर्थंकरो की दीक्षा किसी गुरु के पास नहीं, किन्तु स्वय अपने हाथ मे ही होती है । वे ही अपने गुरु और वे ही अपने चेले । सर्वज्ञ होने तक वे किसी को शिष्य भी नही बनाते, बस—एकाकी साधना करते रहते है ।

तीन वर्ष तक कठोर साधना करने के पश्चात् प्रभु अनन्तजित् एक दिन अशोकवृक्ष के नीचे ध्यान मे स्थिर खडे थे । शुक्ल ध्यान की श्रेणी मे चढते हुए आत्मा के अनन्त ज्ञानादि शक्तियों के अवरोधक कर्मदलों का नाश किया, और बस, आत्म स्वरूप प्रगट हो गया । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र

और अनन्त सुख स्वरूप आत्म-भाव मे रमण करने लगे। हजारो भव्य आत्माओ को उपदेश दिया, ससार से मुक्ति पाने का मार्ग बताया। हजारो ही भव्यो ने प्रभु के चरणो मे दीक्षा ग्रहण की।

प्रभु अनन्तनाथ के समवसरण का सवाद जब वासुदेव पुरुषोत्तम ने सुना तो वे भी भगवान की धर्म देशना सुनने को लालायित हो उठे। अपने बडे बन्धु सुप्रभ बलदेव एव अन्य राजकुमारो के साथ वासुदेव ने प्रभु के दर्शन किये। अमृतोपम उपदेश सुना। प्रभु की क्षमा और समता रस से भरी अमृतोपम वाणी से वासुदेव के हृदय को बडी ही शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। ऐसा अनुभव जीवन मे पहले कभी नही हुआ था, होता भी कैसे ? ऐसी सत्सगति भी तो जीवन मे पहली बार ही मिली थी। आत्मा की इस प्रमाद दशा मे वासुदेव ने दुर्लभ सम्यक्त्व की प्राप्ति की। सम्यक्त्व बोध से वासुदेव की कठोर शासन नीति मे अपूर्व कोमलता आ गई। सचमुच महापुरुषो के सत्सग का कुछ अद्भुत प्रभाव होता ही है।

सुदीर्घ काल तक जनपद मे उपदेश की अमृत धारा बहाते हुए प्रभु ने अन्तिम समय मे अनशन कर परम शैलेशी दशा मे निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र ४।४

□□

१५

भगवान धर्मनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	रत्नपुर
पिता	राजा भानु
माता	सुव्रता देवी
जन्मतिथि	माघ सुदि ३
दीक्षा तिथि	माघ सुदि १३
केवलज्ञान	पौष शुक्ला १५
शिष्यसम्पदा	चौसठ हजार श्रमण बासठ हजार चार सौ श्रमणी।
चिह्न	वज्र
निर्वाण तिथि	ज्येष्ठ शुक्ला ५

अतीत काल में सिंहरथ नाम का एक राजा था। दूर-दूर तक उस राजा का साम्राज्य फैला था। प्रजा बहुत सुखी थी। राज्य की सम्पत्ति था, राजा प्रजा की सम्पत्ति मानता

था, उसे अपने भोग विलास मे नही, किंतु प्रजा के कल्याण कार्यो मे ही खर्च करता था।

एक बार सिहरथ राजा के मन मे सकल्प उठा—"ससार में मैं जा सुख-भोग कर रहा हूं वह तो भविष्य मे दुख देने वाला है। जैसे किसी तलवार पर शहद लगा हो, तो उसे चाटने मे मधुरता अनुभव होती है, किंतु साथ मे थोडी-सी भूल हुई कि नही, जीभ कटने का भी खतरा रहता है, वैसे ही ससार मे यह भोग है। भोग मे क्षणिक आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु कुछ समय बाद वही रोग का रूप धारण कर लेता है। भोग का अत रोग है, यौवन का अत बुढापा है, और जीवन का अत मरण है। रोग, बुढापा और मृत्यु का आक्रमण होने से पूर्व ही मुझे ऐसी साधना करनी चाहिए कि इन तीनो को जीत सकूं ?" इन सकल्पो को साकार करने का एक ही मार्ग है—सयम। सयमी पुरुष रोग को जीत सकता है, बुढापे को जीत सकता है और मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकता है।" राजा ने यह दृढ विचार कर राज्य का त्याग कर दिया और कठोर सयम साधना करने लगा। देव-गुरु की भक्ति-समता तितिक्षा की साधना और निरन्तर मन को ध्यान स्वाध्याय मे लगाये रखना, मुनि सिहरथ को इस साधना मे अपूर्व आनन्द आने लगा। साधना मे आनन्द आने से साधक उसी मे लीन हो जाता है। फिर ससार के सब आनन्द उसके सामने फीके पड जाते हैं। मुनि सिहरथ इसी आनन्द मे लीन हुए साधना

की उत्कृष्ट दशा में पहुंच गये और वहाँ तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

आयुष्य पूर्ण कर के सिंहरथ मुनि स्वर्ग में गये और स्वर्गीय सुखों को भोगकर मानव देह धारण की। स्वर्ग में चाहे जितना वैभव, बल और सौंदर्य का संसार बसा हो, किंतु साधना के लिए तो मानव जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है, यही मुक्ति का द्वार है। हाँ, तो सिंहरथ का जीव भानुराजा की महारानी सुव्रता की कुक्षि से पुत्र रूप में अवतरित हुआ। जन्मोत्सव की खुशियों के बीच राजा ने पुत्र का नाम दिया—धर्मनाथ!

क्षण-क्षण करके समुद्र बन जाता है, और क्षण-क्षण से वर्ष और युग बीत जाते हैं। बालक धर्मनाथ युवा हुए। विरासत में मिला राज्य प्राप्त किया, कुल परम्परा को चलाने के लिए विवाह भी किया, किंतु जैसे जादूगर तरह-तरह के खेल दिखाकर दूसरों को आश्चर्य में डालता हुआ भी, स्वयं कभी आश्चर्य चकित नहीं होता, वैसे ही धर्मनाथ प्रभु कुल और देश परम्परा की रक्षा के लिए संसार के सब खेल करते हुए भी स्वयं उन खेलों में भ्रमित व आसक्त नहीं थे। उनका हृदय तो भोग समय में भी योग का ही चिन्तन करता रहा।

प्रभु धर्मनाथ जब बिल्कुल विरक्त होकर संसार त्याग के लिए तत्पर हुए तो लोकान्तिक देवताओं ने आकर प्रार्थना की—"प्रभो! आपके द्वारा संसार का महान कल्याण होगा

वाला है, अपने निश्चय को शीघ्र साकार रूप दीजिए, धर्म तीर्थ का प्रवतन कीजिये।"

प्रभु तो स्वय जागृत थे। सोये को जगाया जाता है, जागते को क्या जगाये। फिर भी देवनाओ के अनुरोध को वहुमान देकर उन्होंने गुणज्ञता का ही परिचय दिया। एक वर्ष तक मुक्त हस्त मे दान देकर प्रजा के दीन-दुखी और पीडित वग की पीडा को दूर कर प्रभु अव सयम पथ पर वढ गये।

साधना का मार्ग तो समुद्र की यात्रा हे, कितने तूफान आते हैं, लहरो का कितना विचित्र आरोह-अवरोह होता है, कभी भयानक मच्छ-कच्छ नौका को निगलने लपकते हैं तो कभी भयकर तूफान उसे उलटाकर समुद्र की गोद म समाधिस्थ कर देने का षड्यन्त्र रचते है, और कभी भँवर जाल अपने चक्र मे फँसाकर चकनाचूर कर डालने का भय दिखाते ह। ऐसा ही विकट, सकटमय और तूफानो से भरा है साधना का पथ। कि तु तेजस्वी साधक कुशल नाविक की भाति अपनी नौका की रक्षा करता हुआ उसे तट तक पहुँचा देता है। लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

प्रभु धर्मनाथ जी भी इस कठोर साधना पथ पर दो वप तक निरन्तर यात्रा करते रहे। विभिन्न परीषहो और उपसर्गो पर विजय करते हुए आखिर अपने लक्ष्य पर पहुँचे। केवलज्ञान प्राप्त कर प्रभु अरिहन्त वने। ससार को धम धा, आत्म कल्याण का मार्ग दिखाकर सच्चे अर्थो मे लाक के सूय, विश्व

के पथदर्शक बने। हजारो स्त्री-पुरुषो को साधना पथ दीक्षा देकर, गृहस्थ धर्म का उपदेशकर, धर्म तीर्थ की स्थाप कर प्रभु धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थंकर बने।

प्रभु धर्मनाथ के समय मे पुरुषसिंह नाम के वासुदेव राजा हुए। वासुदेव यद्यपि विश्व का सबसे अधिक भुजबली, कठोर शासक और अजेय योद्धा होता है, किन्तु तीर्थंकरो के उपदेश से प्रभावित होकर उनका हृदय भी कोमल, दयालु और धर्मा- नुरागी हो जाता है। प्रभु धर्मनाथ के उपदेश से प्रभावित होकर वासुदेव पुरुषसिंह ने सम्यक्त्व व्रत ग्रहण किया और उनके बड़े भाई बलदेव सुदर्शन ने श्रावक धर्म के नियम स्वी- कार किये।

जीवन के अन्तिम समय मे प्रभु धर्मनाथ सम्मेतशिखर की चोटियो पर पधारे। परम शान्ति के साथ शैलेशी अवस्था मे वही निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र ४।५

□□

१६

भगवान शान्तिनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	हस्तिनापुर
पिता	विश्वसेन
माता	अचिरादेवी
जन्मतिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १३
दीक्षा तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १४
केवलज्ञान	पौष शुक्ला ६
शिष्य सम्पदा	६२ हजार श्रमण ६१ हजार श्रमणी।
चिह्न	मृग
निर्वाणतिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १३

धर्म का कल्पवृक्ष, करुणा, त्याग और बलिदान के अमृत से सींचा जाता है, इस बात का सजीव उदाहरण देखना हो तो आओ, देखें—सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी के उदात्त जीवन में।

बहुत समय पहले की बात है—"पुंडरीकिणी नगरी में घनरथ नाम का महान पराक्रमी राजा था। घनरथ के दो पुत्र हुए, बड़े पुत्र का नाम था मेघरथ और छोटे का दृढ़रथ। यद्यपि मेघरथ अद्भुत बली, योद्धा और पराक्रमी था, किन्तु फिर भी उसका हृदय मक्खन से भी अधिक कोमल, करुणाद्र और पर दुःखकातर था। युवा होने पर मेघरथ राजा बना। नीति और न्याय के साथ प्रजा का पालन करने लगा।

मेघरथ राजा में दो और विशेषताएं भी थीं। राज कार्य में व्यस्त रहते हुए भी वह अपने नित्य नियम और धार्मिक कार्यों में कभी लापरवाही नहीं करता था। पर्व तिथियों पर उपवास और पौषध करना, प्रतिदिन अपना नित्य नियम करना, इन कार्यों में राजा बड़ा सावधान रहता था।

दूसरी बात भोग-विलास के मोहक वातावरण में रहते हुए भी राजा मेघरथ बड़ा संयमी और दृढ़ चरित्र वाला था। उसका निश्चय अटल होता था।

एक बार राजा मेघरथ पौषध करके बैठा था। आत्म-चिन्तन और स्वाध्याय में लीन था। अचानक भय से कांपता हुआ एक कबूतर राजा की गोद में आकर गिर पड़ा। राजा ने आँखें खोलकर देखा, कबूतर कांप रहा था, आंखों से आंसू बह रहे थे, बड़ी दीन और दयाजनक दशा हो रही थी, देखते ही राजा का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उसने कबूतर की ओर देखा तो कबूतर मनुष्य की दीन भाषा में बोला—

"राजन् ! मेरी रक्षा करो ! मेरे पीछे मृत्यु दौडी आ रही है, मैंने आपकी शरण ली है, मेरी रक्षा करो ! मुझे बचाओ !"

राजा ने अपना कोमल हाथ उसकी पीठ पर रखा—"डरो मत ! भय मत खाओ ! तुम मेरी शरण मे आये हो, तो अब निर्भय रहो, तुम्हे कोई भय नही ! राजा ने अपनी बात पूरी भी नही की कि एक क्रुद्ध बाज झपटता हुआ आ पहुँचा। उसकी आँखे अगारे-सी चमक रही थी, क्रोध मे पख फडफडा रहा था, कठोर स्वर मे बोला—"राजन् ! मेरा यह शत्रु आपके पास आकर छिप गया है, इसे छोड दीजिये ! यह मेरा भक्ष्य है, इसका भोजन कर आज पेट की आग बुझाऊँगा।"

राजा ने हाथ उठाकर उसे रोका—"शान्त रहो ! क्या बात है ?"

"राजन् ! मैं आपसे शान्ति का उपदेश सुनने नही आया हूँ, मैं कहता हूँ मेरे शत्रु को लौटा दीजिये ! बडी दूर से इसका पीछा करता आया हूँ, मारे भूख के आते निकल रही है, यदि मैं भूखा मर गया तो इसका पाप आपके सिर पडेगा आप इस कबूतर को मुझे सौप दीजिये।"

"बाज ! तुम्हे भूख लगी है तो लो मैं और कोई वस्तु दे देता हूँ, खाओ ! अपनी भूख मिटाओ ! क्या इस तुच्छ भूख के लिए किसी प्राणी का प्राण लूटा जाता है ? तुम्हे जैसे अपनी जान प्यारी है, वैसे ही इस कबूतर को भी ! तुम्हारा एक पख

काट देने पर तुम्हे कितनी पीडा होगी ? इससे दूसरे प्रा की पीडा को तोलो !"

"राजन् ! मुझे उपदेश मत दो ! मेरा भक्ष्य द दो !" बा ने कहा !

राजा ने दृढता के साथ कहा—"नहीं ! इसे मैं नहीं सकता, मैंने इसे शरणदान दे दिया है, दीन-दुखी और शरणा गत की रक्षा करना मेरा धम है।"

एक क्रोधपूर्ण अट्टहास के साथ बाज बोला—"वाह ! य भी क्या धर्म है ? एक की जान लेना और एक की जा बचाना,—"इस कबूतर के लिए तुम मेरे प्राण लूट रहे हो— वाह यही है तुम्हारा धर्म ! यही है तुम्हारा अटल न्याय राजा होकर भी तुम इतनी बात नहीं समझ सके !"

मेघरथ ने शान्ति के साथ कहा—"बाज ! तुम्हे भूख लगी है, तो जो वस्तु चाहिए मैं दे सकता हूँ चलो, मेरे रसोई में श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पकवान रखे हैं, वे खाकर अपने पेट की आग बुझाओ !"

"राजन ! तुम शास्त्रों के विद्वान होकर भी भूल रहे हो, बाज कभी अन्न नहीं खाता। उसका भोजन तो मांस ही होता है, वह भी बासी नहीं, ताजा और तुम्हारी ... की बात भी अधूरी है। भय-पीडित कबूतर को तुमने शरण दे दी, अब मुझ क्षुधा-पीडित को कौन शरण देगा ? यदि तुम सच्चे धर्मात्मा हो तो दोनों को बचाइये ! मेरे प्राण तड़प रहे

है, मुझे मास चाहिए राजन् ! मेरा भक्ष्य मुझसे मत छीनो !''

बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी बाज नही माना तो राजा ने कहा—"तुझे मास चाहिये ? ताजा माँस ! तो लो इस कबूतर के बदले मे अपना मास काट कर दे देता हूँ। किन्तु मेरी शरण मे आये हुए इस दीन पक्षी को मौत के मुह मे धकेला नही दे सकता !और झट से राजा ने तराजू मँगाया, एक पलडे मे कबूतर को रखा और दूसरे मे अपने शरीर का सजीव मास अपने ही हाथ से काट-काटकर रखने लगा। देखने वाले स्तब्ध हो रहे थे, राज-परिवार मे शोक छा रहा था, रानियाँ विलख रही थी, नगर जनो की आँखे आसूओ से भीग रही थी, पर राजा मेघरथ अपूर्व साहस और वीरता के साथ अपना मास काटकर कबूतर के बराबर तोल रहा था !''

पर यह क्या ? राजा ने आधे शरीर का माँस काटकर रख दिया, फिर भी वह कबूतर के भार से हलका ही रहा ! राजा स्वय उठा और तराजू के एक पलडे मे बैठ गया।[1]

---

[1] आचार्य शीलाक का मत है—राजा ने कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का माँस काटकर देने का वचन दिया, इसी बात पर बाज प्रसन्न हो गया और देव रूप प्रगट कर राजा की प्रशसा करता हुआ चला गया।

—चउप्पन महापुरुष चरित्र पृ० १४६,

को। इन्द्राणी ने तुरन्त रति, उर्वशी आदि स्वर्ग की श्रेष्ठ सुन्दरियों को अपने साथ लिया और चली आई—एक मानव को डिगाने के लिए, राजा मेघरथ की पौषधशाला में। उधर राजा अपने ध्यान व आत्मचिंतन में सुमेरु की भाँति स्थिर बैठा था।

स्वर्ग की सुन्दरियों ने कामोत्तेजक हाव-भाव, लास्य हास गीत-नृत्य आदि करना प्रारम्भ किया। पुरुष को चंचल व उत्तेजित करने के जितने भी प्रकार हो सकते है, वे स्वर्ग सुन्दरियां रात भर करती रही। स्वर्ग की स्वामिनी स्वयं अपने दलबल के साथ सौन्दर्य, लावण्य स्नेह और उन्माद की मधु धारा बहाती रही, रात्रि के प्रारम्भ से ऊषा की प्रथम किरण फूटने तक उसका प्रयत्न चलता रहा, किन्तु राजा मेघरथ ने आँख खोलकर देखना तो दूर, उसका एक रोम भी चंचल नहीं हो सका। इन्द्राणी का दर्प चकनाचूर हो गया। देवेन्द्रों को अपने इशारों पर नचाने वाली स्वर्गीय सुन्दरी एक सामान्य मानव के समक्ष हार गई। प्रातःकाल होते-होते इन्द्राणी ने अपना मायाजाल समेटा, राजा मेघरथ को असीम श्रद्धा के साथ नमस्कार किया और मान भंग हुई मानिनी की भाँति चुपचाप स्वर्ग में आकर देवराज के समक्ष नतमस्तक हो गई।

प्रातःकाल पौषध पूर्ण करके राजा महलों में आया। रानी प्रियमित्रा ने जब रात्रि का वृत्तांत सुना तो उसके मन में भी राजा के प्रति असीम श्रद्धा उमड़ आई। राजा ने दीक्षा लेने का विचार व्यक्त किया तो रानी को लगा इस सामर्थ्यी पुरुष

ः समक्ष अब मै क्या अपना स्त्रीत्व प्रकट करूँ ? उसे भी ाराग्य हुआ और राजा के साथ ही उसने भी दीक्षा ग्रहण ρर ली।

उत्कट जीव दया, कामविजय एव उग्रतपश्चरण, दर्शन शक्ति आदि की विशिष्ट आराधना के द्वारा मुनि मेघरथ ने ीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध वग मे गये और वहाँ से भगवान शान्तिनाथ के रूप मे जन्म ारण किया।

□ □ □

हस्तिनापुर का राज्य उन दिनो प्रकृति के भयकर प्रकोप ा शिकार हो रहा था। राज्य भर की प्रजा महामारी के ंक्रामक रोग से पीडित हो रही थी। रोग के कारण धडाधड नुष्य मर रहे थे, बहुत से रोग शय्या पर पडे तडफ रहे थे, न ोइ उपचार करने वाला और न कोई मृतको का सस्कार रने वाला। राजा विश्वसेन बहुत चिंतित थे। कई उपचार ये, पर समुद्र मे नमक डालने की भाँति सब व्यर्थ।

उसी समय अचिरा देवी के गर्भ मे शान्तिनाथ (मेघरथ ा जीव) का अवतरण हुआ। बालक गर्भ मे जैसे ही आया ानी का शरीर कचन की भाँति नीरोग और तेजस्वी हो या। रानी के शरीर को स्पश की हुई हवा जिसे लगी, वही पने-आप नीरोग होता गया। धीरे-धीरे गर्भ का प्रभाव बढता

गया, रोग मिटता गया। बिना किसी दवा के लोग स्वस्थ होने लगे और कुछ ही समय में सम्पूर्ण राज्य में शान्ति छा गई।

समय पर पुत्र का जन्म हुआ। उसके अचिन्त्य शान्ति प्रदायी प्रभाव को देखकर बालक का नाम ही 'शान्ति' रखा गया। जो भी बालक का मुख देखता, एक अपूर्व शान्ति का भाव उसमें उमड पडता। उसका स्पर्श जिसे हो जाता, उसे ता लगता जैसे चन्दन का शीतल लेप कर लिया हो। पूर्व जन्म के दिव्य तपोबल के कारण बालक 'शान्ति' सचमुच ही शान्ति का अवतार बनकर आया।

राजकुमार शांति कुछ अद्भुत होनहार थे। एक ही साथ चन्द्रमा-सी शीतलता, सौम्यता और सूर्य-सी प्रचण्डता, तेजस्विता देखकर बडे-बडे सामुद्रिक और ज्योतिषवेत्ता भी कुछ समझ नही पाये कि यह बालक कैसा महान प्रतापी एवं शान्त सम्राट होगा ? किन्तु वे तो अक्षय पुण्य का अंश लेकर आये थे। बडे होने पर पिता का साम्राज्य सम्भाला और कुछ ही समय बाद अपने पराक्रम के बल पर देश-विदेश के हजारों राजाओं को अपने अधीन कर लिया।

यद्यपि महाराज शान्तिनाथ में साम्राज्य लिप्सा या [illegible] पिपासा का वेग बिल्कुल ही नहीं था। दूसरों को प्रताड़ित कर पीड़ित करके उन पर शासन करना भी उनका लक्ष्य नहीं था, किन्तु भाग्य उनको चक्रवर्ती के पद पर प्रतिष्ठित करने का था, स्वयं ही उनका प्रताप-तेज [illegible] गया,

शाला मे चक्ररत्न स्वत ही प्रकट हो गया और चक्रवर्ती के दिव्यरत्न अपने आप उनके चरणो को सेवा मे आने लगे। आखिर चक्रवर्ती की विधि के अनुसार महाराज शान्तिनाथ को भी विजय यात्रा प्रारम्भ करनी पडी, किन्तु अन्य राजाओ की भाँति निदय व नृशम हाकर उन्होने युद्ध नही किया। देश पर एक अखण्ड महासत्ता स्थापित कर समस्त प्रजा को न्याय और सुरक्षा प्रदान करना ही उनका ध्येय था। हाँ, तो इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होने छह खण्ड की विजय यात्रा प्रारम्भ की, कही-कही किरात, म्लेच्छ, अनार्य आदि जातियो के साथ भयकर युद्ध भी करना पडा, किन्तु अपने दिव्य मैन्य-वल के द्वारा सबको विजय करते हुए महाराज शान्तिनाथ ने छह खण्ड पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। पाचवे चक्रवर्ती के रूप मे वे छह खण्ड के एक छत्र शासक बने।

दीर्घकाल तक सम्पूर्ण भरत खण्ड का चक्रवर्तित्व भोगने के बाद महाराज को भोगो से एक दम वितृष्णा हो गई। चक्रवर्ती के श्रेष्ठतम सुख-भोगो मे भी उन्हे कोई रस, रुचि या आनन्द नही मिला, आखिर आनन्द मिले भी कैसे ? आनन्द है त्याग मे, भोग मे तो सिफ आनन्द की झूठी कल्पना है।

चक्रवर्ती श्री शान्तिनाथ ने ससार त्यागकर दीक्षा लेने का सकल्प किया। एक वर्ष तक प्रजा को मुक्त हाथो से दान दिया और अन्त मे राजकुमार चक्रायुध को राज्य का भार सौपकर एक हजार पुरुषो के साथ दीक्षा ग्रहण की।

एक वर्ष तक कठोर साधना करने के बाद श्री शान्तिना प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। प्रभु की देशना सुनने के लि हजारों लाखों मानव और देव-देवेन्द्र एकत्र हुए। भगवान 'जय और पराजय' का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए 'आ विजय को ही सच्ची विजय बताया, दूसरों पर विजय कर तो वास्तव में अपनी पराजय है, इन्द्रिय और मन के समक्ष

प्रभु की देशना सुनकर हजारों स्त्री पुरुष दीक्षित हु हजारों ही गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। चार तीर्थ स्थापना कर प्रभु शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ५,४,-

द्रष्टव्य

वसुदेव हिंडी, भाग दूसरा

चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ १४१ १४

□□

१७

भगवान कुन्थुनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	हस्तिनापुर
पिता	राजा वसु
माता	श्रीदेवी
जन्मतिथि	वैशाख कृष्णा १४
दीक्षा तिथि	वैशाख कृष्णा ५
केवलज्ञान	चैत्र शुक्ला ३
शिष्य सम्पदा	साठ हजार श्रमण साठ हजार छ सौ श्रमणी ।
चिह्न	छाग (बकरे का चिन्ह)
निर्वाणतिथि	वैशाख कृष्णा १५

तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ ने एक ही जीवन मे ससार की श्रेष्ठतम भौतिक समृद्धि तथा ऐश्वर्य भी प्राप्त किया और अध्यात्म जगत को अनन्यतम अनन्त दिव्य विभूतियां भी ।

भौतिकता और आध्यात्मिकता के दोनों उच्च शिखरों पर समान रूप से आरूढ होने वाले बहुत ही विरले व्यक्ति होते हैं। श्री कुथुनाथ जिन उनमें एक थे।

श्री कुथुनाथ प्रभु का जन्म भी भगवान शान्तिनाथ की पावन जन्मभूमि में ही हुआ। माता ने गर्भकाल में चौदह महान स्वप्न देखे तथा अन्य कई अद्‌भुत स्वप्न भी आये, जिनसे यह बात स्पष्ट हो गई थी कि यह बालक कोई महान पराक्रमी चक्रवर्ती या तीर्थंकर होगा।

स्वस्थ, सदाचारी और धर्मशील व्यक्तियों के स्वप्न प्रायः असत्य नहीं होते। रानी श्री देवी महान सती और दया करुणा एवं धर्म की मूर्ति थी। ऐसी महान धर्मशीला नारी ही वास्तव में ऐसे मानव-रत्नों को जन्म दे सकती है।

गर्भकाल में माता ने कुथु नामक के दिव्य रत्नों का ढेर देखा था, इसलिए बालक का जन्म होने पर उसका नाम रखा गया 'कुथु' जो आगे साधना क्षेत्र में जाने के बाद 'कुथुनाथ' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

राजकुमार कुथुनाथ युवा हुए, पिता का राज्य सम्भाला। प्राप्त हुई सम्पत्ति की रक्षा तो प्रायः साधारण मनुष्य करता ही है, किन्तु न्याय और धर्म नीति के द्वारा उसका विस्तार एवं विकास करने वाला कुछ विशिष्ट होता है, पिता से भी श्रेष्ठ पुत्र! वह 'अभिजात पुत्र' कहलाता है।

कुंथुनाथ ने हस्तिनापुर के छोटे से साम्राज्य का विस्तार किया। चक्रवर्ती के दिव्य रत्न प्रबल पुण्य से प्राप्त हुए थे और फिर उनमें अद्‌भुत साहस, नीतिज्ञता और अपूर्व तेजस्विता भी थी, इस कारण वे भरत खण्ड के राजाओं पर अपना वर्चस्व बढ़ाते चले गये। पद-पद पर विजय मिलती गई, उद्‌भट वीर और अहंकारी राजागण भी उनके अद्‌भुत सैन्य बल, एवं पराक्रम की बातें सुन-सुनकर स्वतः ही आ-आकर चरणों में झुकते गये और बिना किसी विशेष नर-संहार के ही श्री कुंथुनाथ सम्पूर्ण भरतखण्ड (भारतवर्ष) के चक्रवर्ती सम्राट बन गये।

चक्रवर्ती का ऐश्वर्य प्राप्त करके भी वे भोगों में आसक्त नहीं हुए। भोग को रोग और अहंकार को विनाश का कारण मानते हुए वे सदा निस्पृह और विनम्र बने रहे।

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति किसी राज्य विस्तार की भावना से नहीं, किंतु भोगावली कर्म के कारण ही होती है। अतः वे राज्य-ऐश्वर्य में भी विरक्त तपस्वी का-सा जीवन जीते हैं।

पुत्रों के योग्य होने पर श्री कुंथुनाथ प्रभु राज्य सत्ता से चिपके नहीं रहे। उन्हें राज्य भार सौंपकर, स्वयं कठोर मुनिचर्या स्वीकार कर तप-स्वाध्याय ध्यान आदि में लीन रहने लगे।

सोलह वर्ष तक छद्‌मस्थ अवस्था में साधना करने के बाद

प्रभु को निरावरण केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। प्रभु ने प्र
देशना में दुःख और दुःख के कारणों पर प्रकाश डालते हु
बताया—अज्ञान और मोह—ये दो बीज हैं, जिनसे दुःख
कंटीली लता पर क्लेश, भय और संताप के फल लगते हैं।
मूल बीज को—(अज्ञान-मोह) को नष्ट कर देता है, व
समस्त दुःखों का उच्छेद कर परम शान्तिमय निर्वाण पद प्रा
कर सकता है।

देशना से प्रतिबुद्ध होकर हजारों भव्य दीक्षित हुए, गृ
धर्म का पालन करने लगे। चार तीर्थ की स्थापना हुई।

भारतवर्ष में धर्म का प्रसार करते हुए अन्त में सम्मे
शिखर के उच्च शिखर पर ध्यान मुद्रा में स्थिर होकर प्र
कुंथुनाथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व

१८

भगवान अरनाथ

सारिणी

जन्मस्थान	हस्तिनापुर
पिता	सुदर्शन राजा
माता	महादेवी
जन्मतिथि	मगशिर शुक्ला १०
दीक्षा तिथि	मगशिर शुक्ला ११
केवलज्ञान	कार्तिक शुक्ला १२
शिष्य सम्पदा	पचास हजार श्रमण साठ हजार श्रमणी ।
चिह्न	नद्यावर्त (स्वस्तिक)
निर्वाणतिथि	मृगशिर शुक्ला १०

'अर'—का अर्थ होता है चक्र। यह ससार 'चक्र' की भांति सदा ऊपर नीचे घूमता रहता है। आत्मा कभी नीच योनियों मे जन्म लेकर भयकर यातना और पीडा सहता है

और कभी उच्च श्रेष्ठ जीवन पाकर अपूर्व गुण आनंद प्र
है। भगवान अरनाथ के नाम का ध्वन्यार्थ—सूचक अर्
यही प्रतीत होता है कि संसार अर—अर्थात् चक्र है, सुद
का प्रवाह है, जो स्वयं का नाथ बन जाता है, आत्मा पर
कर उस सन्मार्ग की ओर ले जाता है, वह इस संसार चक
नाथ—स्वामी—अर्थात् 'अरनाथ' बन सकता है।

भगवान अरनाथ ने अपने पूर्व जन्मों में बहुत बड़ी सा
की थी, त्याग, तपस्या, क्षमा, विनय एवं देव-गुरु की भक्ति
स्वयं को विलीन कर दिया था। पूर्वभव में वे
धनपति नाम के राजा बने। किन्तु राजा होकर भी वे
और विनय की साक्षात्मूर्ति थे। बड़े ही दयालु और प्र
वत्सल। प्रजा को लगता था कि यह हमारा राजा नहीं, कि
पिता ही है। कहते हैं, प्रजा भी उनका इतना आदर
सम्मान रखती थी कि कभी कोई अपराध या अन्या
शिकायत भी राजा के पास नहीं जाती और राजा को
किसी को दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। शायद
तो ऐसे राजा और प्रजा की कल्पना भी नहीं की जा स
किंतु वह युग सचमुच ऐसा ही था।

ऐसा विरक्त, दयालु और क्षमाशील राजा अधिक दि
राज्य सत्ता में चिपका नहीं रहता। जब शरीर शिथिल
लगा और बालों में सफेद हाथ प्रवेश हुआ सा
महाराज की वैराग्य भावना समतापूर्ण साधना
का निश्चय किया। पुत्र को राज्य का भार सौंपकर

राजा अब मनपति (मन का स्वामी) बन गया और उग्रतप तपसाधना करके तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया।

पूर्व जन्म मे अर्जित की हुई सद्‌गुणो की अक्षय सम्पत्ति लेकर धनपति की आत्मा ने रानी महादेवी के गर्भ से जन्म लिया। गर्भ मे सूचित चौदह महास्वप्न उनके चक्रवर्तीत्व और तीर्थंकरत्व की साक्षात् सूचना दे रहे थे।

परम्परा के अनुसार देव-देवेन्द्र और देवकुमारियो ने अत्यन्त आनन्दोल्लास के साथ 'अरनाथ प्रभु' का जन्म महोत्सव मनाया। देवागनाएँ भी उनका रूप दर्शन और चरणस्पर्शन को तरसती थी तो मनुष्य की तो बात ही क्या। कुमार अरनाथ सब को ही अतिप्रिय और वल्लभ लगते थे। कोई शत्रु तो उनका था ही नही, किंतु यदि शत्रु होता तो वह भी उनको देखकर चरणो मे सिर झुका लेता और चाहता एक बार उनका वरदायी हाथ सिर पर टिक जाय।

युवा होने पर 'अरनाथ' का पाणिग्रहण हुआ और फिर राज्याभिषेक के रीति रिवाज भी हुए। अरनाथ की भुजाओ मे शौर्य का सागर ठाठे मार रहा था। पूर्व मे हुए दो तीर्थकरो की भाति उन्होने भी अपने अपार बल वैभव के द्वारा छह खण्ड पर एक छत्र शासन किया। यह धरती तो 'वीर भोग्या वसुंधरा' है—वीर, पराक्रमी और मनोबली ही इसका गौरव के साथ उपभोग कर सकते है। श्री अरनाथ प्रभु ने दीर्घकाल तक चक्रवर्ती शासन करके अन्त मे धर्म चक्रप्रवर्तन का निश्चय किया। इस निश्चय के साथ ही विशाल साम्राज्य का त्याग

कर अकिंचन भिक्षु बन गये और एकाकी भावना करने लगे—मौन ! ध्यान ! स्वाध्याय और आत्मचिंतन में मग्न हो गये !

जैन तीर्थंकरों का आदर्श यही रहा है, कि वे जिस क्षेत्र में भी रहे—श्रेष्ठतम होकर रहे। ससार में रहे तो भी सफल जीवन जीया, उच्च से उच्चतम पद पर रहे और दीक्षा ली, मुनि बने तब भी ऐसी उग्र साधना की। श्रेष्ठतम साधक और फिर ससार के श्रेष्ठतम अध्यात्म वैभव के पद 'तीर्थंकर' पद पर पहुँचे गये।

भगवान अरनाथ तीन वर्ष तक साधना करते रहने के बाद एक दिन पुन हस्तिनापुर में पधारे। आम्र वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर रहे थे, शुक्ल ध्यान की विशुद्धतम स्थिति में पहुँचते ही प्रभु को केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि हुई। कर्मों का आवरण हटा और ज्ञान का प्रचण्ड सूर्य चमक उठा। हजारों लाखों प्राणी प्रभु की देशना सुनकर प्रबुद्ध हुए। जिनका आत्मबल प्रचण्ड था, वे बिना अगल-बगल झाँके साधना के कटकाकीर्ण पथ पर बढ़ गये, सामान्य आत्मबल वाले गृहस्थ धर्म की आराधना करने लगे।

प्रभु अरनाथ ने चार तीर्थ की स्थापना की। संसार को धर्म मार्ग का बोध देते हुए हजारों वर्ष भूमण्डल पर विचरते रहे। अन्त में मासिक अनशन करके प्रभु अरनाथ [illegible] की भाँति ध्यान में सुस्थिर होकर परम निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व [illegible]

१९

भगवान मल्लिनाथ

• सारिणी

जन्म स्थान	मिथिला
पिता	कुभराजा
माता	प्रभावती
जन्मतिथि	मागशीप शुक्ला ११
दीक्षातिथि[1]	पौप शुक्ला ११
केवलज्ञान	मागशीप शुक्ला ११
शिष्यसम्पदा	चालीस हजार श्रमण पचपनहजार श्रमणी
चिह्न	कलश
निर्वाणतिथि	माघ शुक्ला १२

जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, आत्मा की अनन्तशक्तियो मे विश्वास करना और उन्हे विकसित करने का प्रयत्न करते

१ यह तिथि ज्ञातासूत्र के अनुसार है, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र मे मागशीप शुक्ला ११ है।

रहना। चाहे कोई स्त्री हो, या पुरुष, आर्य हो या अनार्य, उच्च वर्ण का हो, या निम्नवर्ण का, जो साधना करेगा वह निश्चय ही सिद्धि पायगा और आत्मा की अनन्त [illegible] को प्राप्त करेगा, इस सिद्धान्त का साक्षात् उदाहरण है उन्नीसवें तीर्थंकर भगवती मल्ली! स्त्री रूप में जन्म लेकर भी वे विश्व के महानतम अध्यात्म-पुरुष, तीर्थंकर बने और अगणित प्राणियों को धर्म का प्रतिबोध दिया।

प्रभु मल्ली-स्त्री क्यों हुए? इसका उत्तर जैन धर्म का अटल कर्म सिद्धान्त देता है। आइये उनके [illegible] जीवन में तीर्थंकरत्व और स्त्रीत्व—इन दोनों प्रश्नों का उत्तर खोजें—

अमृत में जहर (तप में कपट)

अपर महाविदेह की वीतशोका नगरी में [illegible] नाम का धर्मात्मा राजा हुआ। आकृति से वह मानव था, किन्तु [illegible] में वह देवता ही था। बड़ा सरल, विनम्र, संयमी और [illegible] बल राजा के एक पुत्र था—जो इन गुणों में अपने पिता से भी बढ़ा-चढ़ा था, 'बाप से बेटा सवाया' देखकर राजा ने उसका नाम 'महाबल' रखा।

महाबल के छह राजकुमार घनिष्ठ मित्र थे। उनके नाम थे—अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र। [illegible] पन में ही ये साथ में खेल-कूद [illegible] भी ये प्राय जहाँ भी रहते, साथ रहते, साथ खाते-पीते। [illegible] है तो फिर दूर क्या और पास क्या—जा [illegible] पानी के पास।"

महाबल राजा बना, उधर छहो मित्र भी क्रमश अपने-अपने राज्य के कर्णधार बने, किंतु फिर भी मित्रता का सूत्र ज्यों का त्यो जुडा रहा। प्रौढ अवस्था आने पर महाबल को वैराग्य हुआ—ससार त्यागकर दीक्षा लेने का विचार किया। छहा मित्रो को उसने अपना विचार बताया, तो वे बोल पडे—"जिस पथ पर एक चलेगा, उस पर सब चलेगे, एक के लिए सब और सबके लिए एक, यही हमारी मित्रता का अटल सिद्धान्त है। ससार के आनन्द-उपभोग मे हम साथ रहे है तो आत्म कल्याण करने मे भी साथ ही रहेगे।"

इस प्रकार सबने दृढ निश्चय किया और महाबल तथा छहा मित्र धर्मघोप नाम के मुनि के पास दीक्षित हो गये। दीक्षा लेने के बाद सातो मुनिया ने विचार किया—"हम अब तक साथ-साथ रहते आये है, प्रत्येक काय सातो मिलकर करते रहे हैं तो अब धर्म साधना, तपश्चरण आदि भी एक समान और एक साथ करना चाहिए।" धम मे साथ निभाना ही तो मित्रता की सच्ची कसौटी है। सातो मित्र इस पर खरे उतरे और सबने एक निश्चय के अनुसार तपस्या प्रारम्भ कर दी।

महाबल मुनि के मन मे विचार उठा—"सभी मित्र यदि समान तप करेंगे तो फिर मेरी उसमे विशेषता क्या रहेगी ? मुझे कुछ विशेप तप करना चाहिए, किंतु करें कैसे ? सबने एक समान तप करने का निश्चय किया है ? यदि मैं अधिक तप का पचखाण करूँगा तो वे भी करेंगे ।" इस प्रकार मुनि महाबल के मन मे कुछ 'विशेपता' की भावना जग गई।

मित्रता समानता की भूमि पर चलती है, विशेषता की [illegible] आई कि मित्रता में धोखा और कपट के गड्ढे पड़ जाते हैं।

सातों मुनियों ने उपवास किया, छह तो पारणा [illegible] लेने गये, महाबल मुनि चुपचाप बैठे रहे। मुनि [illegible] पारणा करने के लिए निमन्त्रण किया तो बोले—"मेरा [illegible] दुख रहा है, आज मैं पारणा नहीं करूँगा।" साथी [illegible] चकित होकर बोले—"आप पहले हमें कहते, हम भी [illegible] करते हमारा तो संकल्प है साथ-साथ तप करना।"

मुनि महाबल उन्हें मीठी भाषा में समझाते—"नहीं, [illegible] पारणा करो, मेरे लिये मत रुको, भिक्षा ले आये हो तो [illegible] उपयोग करना ही पड़ेगा।"

साथी मुनि मन-मसोस कर रह जाते, आखिर बड़े हैं [illegible] उनका आदेश भी शिरोधार्य करना पड़ता।

मुनि महाबल अपनी ज्येष्ठता और चतुरता से [illegible] प्रकार तप साधना की प्रतिस्पर्धा में मित्रों से आगे बढ़ते [illegible] गये। किंतु कपट आखिर पाप है, चाहे वह तप के लिए [illegible] त्याग अथवा भोग के लिए। चाहे मुनि हो, या गृहस्थ, [illegible] किसी का बाप नहीं होता, यह बात निश्चित सच है। [illegible] और वह भी मित्रों के साथ, कितना अपकारी होता है [illegible] महाबल जानते थे, पर तप के द्वारा विशिष्टता प्राप्त करने [illegible]

ाभ मे उनकी भावना, उनका ज्ञान गलत दिशा मे मुड गया।[1]
ामृत से भरे कलश मे जहर मिल गया।

मुनि महाबल के बेला करने पर साथी मुनि भी बेला कर
ते, तो महाबल मुनि उन्हे कैसे भी फुसलाकर पारणा करवा
ते और स्वय तेला पचख लेते। इस प्रकार तपस्या मे प्रति-
पर्धा के साथ आगे बढते। कठोर से कठोर और दीर्घकालीन
पस्या, प्रतिमा और अभिग्रह आदि करके इस जन्म मे महा-
ाल मुनि ने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन भी किया तो तप मे
ायाचार के कारण स्त्री वेद का बन्धन भी। अन्तिम समय मे
ग्रनशन आदि के द्वारा समाधि मरण प्राप्त कर सातो मुनि
वैजयत नामक अनुत्तर विमान—स्वर्ग मे गये।

□ □ □

मिथिला नगरी मे उन दिनो इक्ष्वाकुवशी राजा कुभ का
राज्य था। महारानी प्रभावती रूप-शील और बुद्धि मे 'राज्य-
लक्ष्मी' की भाँति मानी जाती थी। महाबल मुनि की आत्मा
रानी प्रभावती के गर्भ मे आई और समय पर एक अद्वितीय
तेज सम्पन्न कन्या के रूप मे जन्म लिया। गर्भ दशा मे रानी
को 'पुष्पमाला' पर सोने का दोहद हुआ था इस कारण कन्या
का नाम रखा गया मल्लीकुमारी।

---

१ इस मायाचार के कारण ही महाबल मुनि ने, अतरग सयम से पतित होकर 'स्त्रीवेद' का बधन किया और तीर्थंकर के भव मे स्त्री रूप मे जन्म लिया।

—ज्ञातासूत्र ८

मित्रता समानता की भूमि पर चलती है, विशेषता की भावना आई कि मित्रता मे धोखा और कपट के गड्ढे पड जाते हैं।

सातो मुनियो ने उपवास किया, छह तो पारणा की भिक्षा लेने गये, महावल मुनि चुपचाप बैठे रहे। मुनि आये, उन्हे पारणा करने के लिए निमन्त्रण किया तो बोले—"मेरा सिर दुख रहा है, आज मैं पारणा नही करूँगा।" साथी मुनि चकित होकर बोले—"आप पहले हमे कहते, हम भी नही करते हमारा तो सकल्प है साथ-साथ तप करना।"

मुनि महावल उन्हे मीठी भाषा मे समझाते—"नहीं, तुम पारणा करो, मेरे लिये मत रुको, भिक्षा ले आये हो तो इसका उपयोग करना ही पडेगा।"

साथी मुनि मन-मसोस कर रह जाते, आखिर बडे के नाते उनका आदेश भी शिरोधार्य करना पडता।

मुनि महावल अपनी ज्येष्ठता और चतुरता के कारण इस प्रकार तप साधना की प्रतिस्पर्धा मे मित्रो से आगे बढ़ते चले गये। किंतु कपट आखिर पाप है, चाहे वह तप के लिए किया जाय अथवा भोग के लिए। चाहे मुनि हो, या गृहस्थ, पाप किसी का बाप नही होता, यह बात बिल्कुल सच है। कपट और वह भी मित्रो के साथ, कितना अनर्थकारी होता है, मुनि महावल जानते थे, पर तप के द्वारा विशिष्टता प्राप्त करने के

ोभ म उनकी भावना, उनका ज्ञान गलत दिशा मे मुड गया।[1] अमृत से भरे कलश मे जहर मिल गया !

मुनि महावल के वेला करने पर साथी मुनि भी वेला कर लेते, तो महावल मुनि उन्हे कैसे भी फुमलाकर पारणा करवा देते और स्वय तेला पचख लेते । इस प्रकार तपस्या मे प्रतिस्पर्धा के साथ आगे वटते। कठोर से कठोर और दीर्घकालीन तपस्या, प्रतिमा और अभिग्रह आदि करके इस जन्म मे महावलि मुनि ने तीर्थंकर गोत्र का उपाजन भी किया तो तप मे मायाचार के कारण स्त्री वेद का वन्धन भी। अन्तिम समय मे अनशन आदि के द्वारा समाधि मरण प्राप्त कर सातो मुनि वैजयत नामक अनुत्तर विमान—स्वर्ग मे गये !

□ □ □

मिथिला नगरी मे उन दिनो इक्ष्वाकुवशी राजा कुभ का राज्य था। महारानी प्रभावती रूप-शील और बुद्धि मे 'राज्यलक्ष्मी' की भाति मानी जाती थी। महावल मुनि की आत्मा रानी प्रभावती के गर्भ मे आई और समय पर एक अद्वितीय तेज सम्पन्न कन्या के रूप मे जन्म लिया। गर्भ दशा मे रानी को 'पुष्पमाला' पर सोने का दोहद हुआ था इस कारण कन्या का नाम रखा गया मल्लीकुमारी !

---

१ इस मायाचार के कारण ही महावल मुनि ने, अन्तरग सयम से पतित होकर 'स्त्रीवेद' का वन्धन किया और तीर्थंकर के भव मे स्त्री रूप मे जन्म लिया। —ज्ञातासूत्र ८

मित्रता समानता की भूमि पर चलती है, विशेषता की भाव आई कि मित्रता मे धोखा और कपट के गड्ढे पड जाते है।

सातो मुनियो ने उपवास किया, छह तो पारणा की भिक्षा लेने गये, महाबल मुनि चुपचाप बैठे रहे। मुनि आये, उन्हे पारणा करने के लिए निमन्त्रण किया तो बोले—"मेरा सिर दु ख रहा है, आज मैं पारणा नही करूँगा।" साथी मुनि चकित होकर बोले—"आप पहले हमे कहते, हम भी नही करते हमारा तो सकल्प है साथ-साथ तप करना।"

मुनि महाबल उन्हें मीठी भाषा मे समझाते—"नही, तुम पारणा करो, मेरे लिये मत रुको, भिक्षा ले आये हो तो इसका उपयोग करना ही पडेगा।"

साथी मुनि मन-मसोस कर रह जाते, आखिर बड़े थे, उनका आदेश भी शिरोधार्य करना पडता।

मुनि महाबल अपनी ज्येष्ठता और चतुरता के कारण इस प्रकार तप साधना की प्रतिस्पर्धा मे मित्रो मे आगे बढ़ते चले गये। किंतु कपट आखिर पाप है, चाहे वह तप के लिए किया जाय अथवा भोग के लिए। चाहे मुनि हो, या गृहस्थ, पाप किसी का बाप नही होता, यह बात बिल्कुल सच है। कपट और वह भी मित्रो के साथ, कितना अनर्थकारी होता है, मुनि महाबल जानते थे, पर तप के द्वारा विशिष्टता प्राप्त करने मे

जाओ ! अपने स्वामी को कहो सदबुद्धि से काम ले—ते ते पाँव पसारिये जेती लाबी सोड ! अपने वल वैभव के अनुरूप ही किसी अन्य राजकुमारी की प्रार्थना करे, मल्लीकुमारी का प्राप्त करने का स्वप्न न देखे।"

दूत उदास-निराश हुआ लौट गया। इधर थोड़े ही समय वाद चपापुरी के राजा चन्द्रच्छाय का दूत कुभ राजा की सभा मे पहुँचा और मल्लीकुमारी के लिए अपने राजा की प्राथना प्रस्तुत की। कुभराज ने भी वही दो टूक जवाव दिया, दूत खिसिया कर लौट गया। इसी प्रकार श्रावस्ती के राजा रुक्मि, वाराणसी के शख, हस्तिनापुर के अदीन शत्रु, और काम्पिल्य पुर के राजा जितशत्रु के दूत भी वहाँ पहुँचे। कुभ राजा दूतो की वाते सुनते सुनते परेशान हो गया, उसने सभी दूतों को एक ही जवाव दिया—"मल्लीकुमारी की इच्छा करने से पहले वे अपना मुह अपने शीशे मे देखले और किसी अन्य राजकुमारी की प्रार्थना करे।"

राजाओ ने जव कुभराजा का कडा और दो टूक उत्तर सुना तो उनका अहकार फुकारने लगा। वे अपमान का वदला लेने और मल्लीकुमारी को प्राप्त करने की जिद्द ठान कर अलग-अलग दिशाओ मे मिथिला पर चढाई करके आ गये। मिथिला चारों ओर मे घिर गयी। युद्ध के नगारे वजने लगे।

अचानक आक्रमण से कुभराजा वहुत चिंतित हुआ। वाहर का किसी मित्र राजा का सहयोग भी नही मिल सकता था और एक साथ छह शत्रु राजाओ का सामना करने का वल

मल्लीकुमारी अद्भुत लावण्य, रूप, तेज और प्रतिभा की पुतली थी। चपक लता की भाँति ज्यों ज्यों अवस्था को प्राप्त होती, उसकी मनोहारी सुषमा और अधिक निखरती जाती। लोग उसे देखकर रति, और उर्वशी का वर्णन भूल जाते।

फूल की मधुर सुगन्ध हवा में अपने आप फैल जाती है। मल्लीकुमारी के अद्वितीय रूप-लावण्य की चर्चा भरत क्षेत्र के कोने-कोने में होने लगी थी। बड़े-बड़े राजाओं के अन्तःपुर इस चर्चा में मग्न थे कि इस समय में यदि कोई परम सुन्दरी स्त्री है, तो वह है मल्लीकुमारी। बल-वैभव में गर्विष्ठ राजाओं के मुह में मल्लीकुमारी का नाम सुनते ही पानी छूट पड़ा और इसी कारण यह आश्चर्यजनक घटना घटी कि एक ने साथ छह पराक्रमी राजाओं के दूत मल्लीकुमारी की याचना करने मिथिला के दरबार में पहुँच गये।

सर्वप्रथम साकेतपुर के राजा प्रतिबुद्धि का दूत कुम्भराज के दरबार में पहुचा और अभिवादन के साथ अपने राजा के बल, कीर्ति, वैभव आदि का बखान करते हुए निवेदन किया—

"महाराज! हमारे महाराज ने आपके कन्यारत्न—मल्लीकुमारी को अपने अन्तःपुर की शोभा बढाने के लिए नम्र याचना की है। यह सम्बन्ध जुड़ जाने से हम दोनों राज्यों के बीच घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित हो जायेंगे।"

राजा कुम्भ को यह याचना बहुत बुरी लगी। वे बोले—

"तुम्हारा राजा अपने मुँह मियामिट्ठू बन रहा है? कहाँ इन्द्र और चक्रवर्तियों को भी दुर्लभ मेरी कन्या और कहाँ तुम्हारा राजा

जाओ! अपने स्वामी को कहो सदबुद्धि से काम ले—तें ते पाँव पसारिये जेती लावी सोट! अपने बल वैभव के अनुरूप ही किसी अन्य राजकुमारी की प्रार्थना करे, मल्लीकुमारी को प्राप्त करने का स्वप्न न देखे।"

दूत उदास-निराश हुआ लौट गया। इधर थोड़े ही समय बाद चंपापुरी के राजा चन्द्रच्छाय का दूत कुंभ राजा की सभा में पहुँचा और मल्लीकुमारी के लिए अपने राजा की प्रार्थना प्रस्तुत की। कुंभराज ने भी वही दो टूक जवाब दिया, दूत खिसिया कर लौट गया। इसी प्रकार श्रावस्ती के राजा रुक्मि, वाराणसी के शंख, हस्तिनापुर के अदीन शत्रु, और कांपिल्य पुर के राजा जितशत्रु के दूत भी वहां पहुँचे। कुंभ राजा दूतों की बातें सुनते सुनते परेशान हो गया, उसने सभी दूतों को एक ही जवाब दिया—"मल्लीकुमारी की इच्छा करने से पहले वे अपना मुह अपने शीशे में देखले और किसी अन्य राजकुमारी की प्रार्थना करे।"

राजाओं ने जब कुंभराजा का कड़ा और दो टूक उत्तर सुना तो उनका अहंकार फुकारने लगा। वे अपमान का बदला लेने और मल्लीकुमारी को प्राप्त करने की जिद्द ठान कर अलग-अलग दिशाओं में मिथिला पर चढ़ाई करके आ गये। मिथिला चारों ओर से घिर गयी। युद्ध के नगारे बजने लगे।

अचानक आक्रमण से कुंभराजा बहुत चिंतित हुआ। बाहर किसी मित्र राजा का सहयोग भी नहीं मिल सकता था और एक साथ छह शत्रु राजाओं का सामना करने का बल

भी उसके पास नही था। पिता की यह दुश्चिता मल्लीकुमारी को भी असह्य हो गई। उसने कहा—"पिताजी ! जहाँ बल से काम न चलता हो, वहा क्या करना चाहिए ?"

"बेटी ! वहाँ छल से काम निकाला जाता है, पर वह मुझे नही सूझ रहा है। पर कोई बात नही ! मैं आखिरी दम तक लड़ूँगा और तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

मल्लीकुमारी हँसी—"पिताजी ! इस छोटी-सी बात के लिए हजारो वीरो का रक्त बहाना, अगणित माताओ की गोद सूनी कर देना और सैकड़ो नारियो का सुहाग सिंदूर पोछ देना क्या कोई समझदारी है ? कोई भी युद्ध टल सकता है, समस्या सुलझ सकती है, यदि उसका मूल कारण सही ढंग से समझ लिया जाय और साहस व बुद्धिमानी के साथ उसे दूर किया जाय। आप मेरी बात मानिये, और छहो राजाओ को मेरे सम्बन्ध के लिए निमन्त्रित कर लीजिये।"

कुभराजा अवाक्-सा सुनता रहा—"बेटी ! यह क्या कह रही हो ? समस्या सुलझाने के बजाय अधिक उलझ जायगी। राजनीति छल से चलती है, किन्तु छल का परिणाम कभी-कभी बड़ा भयंकर आता है।"

मल्लीकुमारी ने धीरज बँधाते हुए कहा—"पिताजी ! कुछ नहीं होगा। मैं छल नहीं, वास्तविकता से खेलूंगी, मैंने उसकी योजना पहले से ही तैयार करली है। जिस दिन आपने इन दूतों को फटकारा था, तभी से यह स्पष्ट था कि राजा

हाथ पर हाथ धर के नही बैठेगे, वे शक्ति दिखाकर, आक्रमण करके भी अपने मसूब पूरे करेगे, मनुष्य आखिरी दम तक अपनी इच्छा पूरी करने की कोशिश करता ही है। आपको मालूम है, अशोकवाटिका मे मैंने जो मोहनगृह[1] बनवाया है, जिसम छह सुन्दर गभगृह (कमरे) हैं, उनके बीच मे (मध्य भाग मे) सोने की जाली लगी है और उस जाली के भीतर जो स्वण-रत्नमय मेरी दिव्य प्रतिमा (पुतली) बनवाई है वह किस लिए ! वह इसी आपत्ति का निवारण करने के लिए है। मेरी सब योजना है, मुझे सब विधि मालूम है, आप अपने मन्त्री को भेजिय और उन्हे उस मोहनगृह मे निवास करने के लिए सूचना दीजिए।"

पुत्री की विलक्षण बुद्धि और दूरदर्शितापूण चातुरी को देखकर राजा स्तम्भित रह गया। मल्लीकुमारी के कथानुसार राजा ने छहो राजाओ को मोहनगृह मे ठहरा दिया, नगर की घेरे बन्दी खत्म हो गई।

छहो राजा अलग-अलग गर्भ-गृहो मे आकर ठहर गये। जाली के उस पार मध्य भाग मे मल्लीकुमारी की दिव्य प्रतिमा मणिया के प्रकाश मे जगमगा रही थी। ऐसा लग रहा था, मल्लीकुमारी सामने खडी मुस्करा रही है, उसकी आखो मे स्नेह का अमृत बरस रहा है, होठ अभी-अभी हिलने को है। सभी प्रकाश की चकाचौंध मे उद्भ्रात हो गये, प्रतिमा को साक्षात्

---

१ असोग वणियाए एग मह मोहणघर । —ज्ञातासूत्र ८

मल्लीकुमारी समझकर उसका स्पर्श करने को आतुर! एक टक देखते रहे, अभी कुछ बोलेगी!

एक गुप्त मार्ग से मल्लीकुमारी प्रतिमा के पीछे आकर खड़ी हो गई। धीरे से उसने प्रतिमा के मस्तक पर कमल की आकृति का बना हुआ मुकुट (ढक्कन) खोला। ढक्कन खुलते ही भयंकर दुर्गंध उछलने लगी। जैसे सांप आदि के मुर्दा कलेवर सड़ रहे हों, मल-मूत्र की भयंकर सड़ांध फैल रही हो, उससे भी हजार गुनी अधिक तीव्र, दुर्गंध उठने लगी। राजाओं का दम घुटने लगा। अब तक जो एक टक मल्ली कुमारी को प्रतिमा को निहार रहे थे, वे सहसा घबरा गये, कपड़ों से नाक-मुंह बन्द करके इधर-उधर भागने लगे, पर देखा, दरवाजे तो पहले से ही बन्द है, अब भीतर ही भीतर उनका दम घुटने लगा, भयंकर घबराहट और छटपटाहट मच गई। तभी मल्लीकुमारी ने सामने आकर पुकारा—"आप तो अत्यन्त प्रेम व स्नेह के साथ मुझे देख रहे थे, मेरे शरीर के अंग-अंग पर कामुक नजर गड़ाए निहार रहे थे न? अब क्या हो गया? कैसे नाक मुंह बन्द करके मुंह फेर लिया? क्या मैं अच्छी नहीं लग रही हूँ?"

मल्लीकुमारी का यह तीखा व्यंग्य राजाओं के हृदय में तीर-सा चुभ गया। पर, करते क्या, आज बुरी तरह फंस गये थे। वे बोले—"देवानुप्रिये! तुम्हारा रूप तो अद्वितीय है—जीवन भर देखते रहने से भी आँखें तृप्त नहीं होंगी! किन्तु यह

भयकर दुर्गंध कहाँ से आ रही है ! इसी से हमारा सिर फटा जा रहा है, यह दुर्गंध असह्य है ।"

मल्लीकुमारी ने हँसकर कहा—"जिस देह के रूप को देखते-देखते आपको आँख नही अघाती थी, पागल भौंरे की तरह जिस देह पुष्प पर आपका मन मुग्ध हो रहा था, यह दुर्गंध भी उसी देह की है। इस सुन्दर और मनोहर प्रतीत होने वाली त्वचा के भीतर ही यह गदगी छिपी है, क्या आपको नही मालूम ?"

राजाओ ने घबराकर कहा—"राजकुमारी ! पहले हमे बाहर निकलने दो, फिर तुम यह सब रहस्य हमे समझाना।"

तभी गर्भगृहो के दरवाजे खुल गये, छहो राजा बाहर आ गये और दीन भावो से पराजित की भांति मल्लीकुमारी की तरफ देखने लगे।

मल्लीकुमारी ने बताया—"जो स्वादिष्ट और मधुर सुगधित भोजन मैं इस उदर मे डालती थी, उसी मे का एक ग्रास भोजन प्रतिदिन इस पुतली मे डाला जाता था। किन्तु उन स्वादिष्ट पुद्‌लो की यह परिणति आज इतनी दुर्गंधमय बन गई है कि उसकी गन्ध से भी आपका सिर फटा जा रहा है। क्या आप नही सोचते कि इस देह (उदर) की भी वही दशा होती यदि इसमे से भी कही निगमन न होता। मानव का यह देह भी उतना ही अशुचिमय, दुर्गन्धमय है। उस मल-मूत्र-अशुचि के ऊपर यह गोरी चमडी का आवरण है, यदि इसे हटा

दिया जाय तो आप इस तन से भी उसी प्रकार घृणा क
जिस प्रकार इस दुर्गन्ध से कर रहे हैं ।"

मल्लीकुमारी की मर्मभेदी वाणी सुनकर राजाओं
अन्तर विवेक जगने लगा । भगवती ने आगे कहा—"राजन
आप किस नश्वर और अशुचिमय रूप पर मुग्ध हो रहे
यह मल-मूत्र का भण्डार शरीर क्या कभी पवित्र और सुन्द
सकता है, यहाँ तो केवल सुन्दरता की भ्राति है, इस भ्राति को
हटाइये ! अपने वास्तविक रूप को समझिए ! अपनी ज्योति
अनन्त आनन्दमय, परम शुद्ध आत्मा का दर्शन कीजिए ! आप
भूल गये हो, विगत जन्म (अबसे तीसरे जन्म में) हम सा
घनिष्ठ मित्र थे, हमारी मैत्री, 'सात देह एक जीव' वह सा
थी, हम साथ-साथ दीक्षित हुए, साथ-साथ तपस्या की और
साथ ही अन्तिम अनशन कर देह त्याग कर स्वर्ग में गये । मैं
आप लोगों के साथ कपट किया था, इसलिए इस जन्म में स्त्री
वेद मिला है, पर कोई बात नहीं, हमें इस वेद भावना (अवग
दशा) को ही मिटाकर वीतराग पद प्राप्त करना है, आत्मा क
परम विशुद्ध स्वरूप में रमण करना है ।"

भगवती मल्ली के उद्‌बोधन से राजाओं के अन्तर पट
खुल गये । घने अंधकार से निकलकर जैसे वे किसी प्रकाश
पुंज के सामने खड़े हो गये । चिंतन करते-करते उन्हें भी जाति
स्मरण (पूर्व जन्म की स्मृति) ज्ञान हुआ, अप
देखा । अब तो पश्चात्ताप करते हुए सभी रा

रणो मे झुक गये, क्षमा मागकर बोले—"अब हम क्या करे ? ैसे इन दु सचित कर्मो से अपने को मुक्त करे ?"

भगवती ने कहा—"यदि आपके मन मे विरक्ति जगी ै, तो जाइये अपने राज्यो मे, अपने राज्य आदि की व्यवस्था र ससार त्याग के लिए स्वय को तैयार कीजिये। मैं भी ीघ्र ही दीक्षा लूगी, आपको भी वही पथ अपनाना है और अपनी पुरानी मैत्री का उपसहार इसी भव मे करना है।"

राजा कुभ, अमात्य, सेनापति आदि सभी तब तक अशोक ाटिका मे पहुच गये थे। भगवती का उद्बोधन जिसने भी ुना उसी का हृदय वैराग्य से आप्लावित हो गया। सभी राजा अपनी राजधानियो मे गये। भगवती मल्ली ने पिताजी से दीक्षा का सकल्प बताया, वर्षी दान दिया और अन्त मे तीनसौ स्त्रियो (तीनसौ पुरुष भी थे) के साथ सयम पथ स्वीकार किया।

भगवती मल्ली ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। प्रथम देशना मे असख्य देव-असुर मानव उपस्थित हुए। वे छहो राजा भी प्रभु की देशना सुनने आये और पूर्व-सकल्प के अनुसार मुनि धर्म स्वीकार कर कठोर तप साधना करने लगे।

भगवती मल्ली ने जब अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया उस समय पाच सौ आर्याएँ भी उनके साथ सिद्ध हुई।

—ज्ञातासूत्र ८। त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र ६/६

□□

२०

भगवान मुनिसुव्रत

● सारिणी

जन्मस्थान	राजगृही
पिता	सुमित्र राजा
माता	पद्मावतीदेवी
जन्मतिथि	ज्येष्ठ कृष्णा ८
दीक्षा तिथि	फाल्गुन शुक्ला १२
केवलज्ञान	फाल्गुन कृष्णा १२
शिष्यसम्पदा	तीस हजार श्रमण पचास हजार श्रमणी।
चिह्न	कूर्म (कछुआ)
निर्वाण तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा ९

रानी पद्मावती से एकदिन महाराज सुमित्र ने कहा "देवी ! आजकल क्या बात है, दिनभर तुम धर्म, भक्ति आदि में ही लगी रहती हो, ऐसा लगता है जैसे गृहजीवन में भी तुम आर्यिका बन गई हो, क्षण-क्षण में

पद-पद पर व्रत और उठते-बैठते बस, प्रभु भक्ति की धुन ही तुम्हारे मुह पर रहती है ?"

रानी ने विनय के साथ कहा—"महाराज ! हो तो ऐसा ही रहा है. पता नही, जब से यह भाग्यशाली प्राणी गर्भ में आया है, तब से मुझे ससार के भोग-विलास मे कोई रुचि नहीं हो रहा है यद्यपि मन बडा प्रसन्न और शान्त रहता है, किन्तु न खाने की अभिलाषा, न कुछ भ्रमण-क्रीडा आदि का शौक ! बस, ऐसा ही जी करता है कि नियम ही अपने जीवन का धन है, व्रत-त्याग, क्षमा, सत्सगति यही सब जीवन की सम्पत्ति है व्रत करने मे दान देने मे और नये-नये नियम ग्रहण कर उनके पालन मे ही आनन्द आता है।"

राजा ने गम्भीर हास्य के साथ कहा—"सचमुच तुम्हारा पुत्र कोई बडा त्यागी, महात्मा और सुव्रती साधु बनेगा। जिसके प्रभाव से ही व्रत-पालन मे तुम्हारी इतनी रुचि हो रही है।"

माता-पिता का यह अनुमान सच निकला। यही पुत्र आगे जाकर बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। पुत्र का जन्मोत्सव मनाते समय राजा को कुछ मास पूर्व कहे गये अपने शब्द याद आये—"यह कोई सुव्रती साधु बनेगा।" इसलिए पुत्र का नाम भी उसने 'मुनि सुव्रत' रखा।

राजकुमार मुनि सुव्रत पराक्रम और प्रतिभा मे अद्भुत थे, किंतु फिर भी वे बचपन से ही मुनि की तरह मौन, व्रत ध्यान आदि मे ही लीन रहते। ससार में रहते हुए भी उनका

मन ससार मे नही था। लावण्यवती रमणियो के हाव भाव कटाक्ष उन्हे कभी भी मोहित नही कर सके और न राज्य सत्ता का नशा ही उन्हे कभी मदहोश कर सका। यौवन, धन, भोग-साधन और सत्ता—ये चारो वस्तुएँ जहरीली होती हैं किंतु कुमार मुनि सुव्रत ने इनके जहर को भी जीत लिया था। अनेक वर्षों तक राज्य सत्ता सम्भालने के बाद अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य भार सौंपकर वे दीक्षित हो गये और सच्चे अर्थ में 'मुनि सुव्रत' बन गये।

मुनि सुव्रत प्रभु दीक्षा लेकर ग्यारह मास तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे, किन्तु फिर भी सदा अछद्म (अप्रमत्त) भाव मे ही विचरते रहे। कठोर तपश्चरण और निर्मल ध्यान के द्वारा घन घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। केवली होते ही वे तीर्थंकर की चौतीस अतिशय, तथा अन्य अनेक विभूतियों से सम्पन्न हो गये। स्वर्ग के देवता, धरती पर आ आकर प्रभु के चरणो मे वदना करने लगे। देवताओं ने दिव्य समवशरण की रचना की। प्रभु ने मेघ-गम्भीर वाणी मे उपदेश देते हुए बताया—"वही मुनि सुव्रत हो सकता है जो पूरी आस्था के साथ दश प्रकार के यतिधर्म का पालन करता हो और वह श्रावक भी देशव्रती होकर सुव्रती कहला सकता है जो मार्गानुसारी के पैंतीस गुणो की निर्मल मन से आराधना करे। दीर्घ साधना से तपी हुई, तेजस्वी वाणी मे यह अमोघ चमत्कार था कि एक ही देशना मे हजारो नर-नारी प्रतिबुद्ध हो गये। कईयो ने मुनि धर्म ग्रहण किया और कइयो ने श्रावक धर्म।

चार तीर्थ की स्थापना हुई और प्रभु मुनि सुव्रत धर्म का दिव्य सदेश देकर मानव-जाति का कल्याण करने लगे।

प्रभु मुनि सुव्रत के पास कार्तिक नाम का महान ऋद्धिशाली श्रेष्ठी भी दीक्षित हुआ, इस श्रेष्ठी के आश्रय मे एक हजार वणिक अपनी आजीविका करते थे। श्रेष्ठी को जब वैराग्य हुआ तो उसके आश्रित वणिक भी ससार त्याग करने को उद्यत हो गये। सभी के सभी प्रभु के चरणा मे आकर मुनि धर्म मे दीक्षित हुए।

जीवन की साध्यवेला मे प्रभु मुनिसुव्रत ने एक मास का अनशन ग्रहण किया और समाधि के साथ ससार के जन्म-मरण से मुक्त हो निर्वाण पद को प्राप्त हुए।[1]

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र ६/७

□□

---

१ रामायण के चरित्रनायक मर्यादापुरुषोत्तमराम, (बलदेव) लक्ष्मण (वासुदेव) महासती सीता और रावण (प्रतिवासुदेव) आदि मुनिसुव्रत स्वामी के शासन काल मे ही हुए, ऐसा उल्लेख है।

२१

भगवान नमिनाथ

● सारिणी

जन्मस्थान	मिथिलानगरी
पिता	विजय राजा
माता	वप्रादेवी
जन्मतिथि	श्रावण वदि ८
दीक्षा तिथि	आषाढ़ वदि ९
केवलज्ञान	मिगसर वदि ११
शिष्यसम्पदा	बीस हजार श्रमण इकतालीस हजार श्रमणी।
चिह्न	कमल
निर्वाण तिथि	वैशाख वदि १०

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म ऐसे समय में हुआ जब उनके पिता महाराजा विजय सर्वत्र अपनी विजय दुंदुभि बजा रहे थे। पुराने से पुराने शत्रु सहज भाव से आकर उनसे

चरणो में झुक रहे थे और रानी वप्रादेवी के सौम्य तेज को देखकर शत्रु का ही नही, किन्तु मित्र का भी मस्तक आदर-पूर्वक नम जाता था।

'नमन' के इस उपलक्ष्य में राजा ने अपने भाग्यशाली पुत्र का नामकरण किया—नमि।

नमिकुमार का शैशव सुख व आनन्द की घड़ियो मे बीता। विविध प्रकार की विद्याएँ और कला, ज्ञान विज्ञान का स्रोत तो उनके हृदय मे सहज-स्फूर्त था ही। शौर्य और पराक्रम की भावनाएँ भी उनमे उमड रही थी।

यौवन की चहल-पहल शुरु हुई। माता-पिता के आग्रह से अनेक राजकन्याओ के साथ नमिकुमार का विवाह हुआ और फिर राजा विजय ने समारोह के साथ नमि का राज्या-भिषेक कर राज्य की वागडोर उनके कुशल हाथो मे सौंप दी।

नमि राजा ने अपने शासन काल मे प्रजा मे नीति, सदाचार और वाणिज्य व्यवसाय के द्वारा आर्थिक व नैतिक समृद्धि का विशेष विकास किया। उनका स्वभाव सहज विनम्र था इस-लिए उनकी प्रजा भी विनीत और अनुशासनप्रिय रही।

कुछ समय वाद नमि राजा के एक पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया सुप्रभ। सुप्रभकुमार जव सब प्रकार से योग्य वना तो राज्य का भार उसे सौंपकर स्वय आत्मसाधना करने के लिए दीक्षित हो गये। स्वय के द्वारा स्वय की आत्मा को नमा कर उन्होंने अपना 'नमि' नाम सार्थक किया।

नौ महीने तक वे एकान्त मे मौन साधना करते रहे। इस

बीच उन्हे अनेक उपसर्ग भी हुए, विभिन्न प्रकार के सकट आये किन्तु वीर योद्धा की भाति वे उन्हे परास्त करते हुए निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढते गये।

आखिर मे चार घनघाति कर्मों का क्षय कर प्रभु नमि केवल ज्ञानी बने। इन्द्र आदि असख्य देव मानवो ने मिलकर प्रभु का केवल महोत्सव मनाया, समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने आगार धर्म और अणगार धर्म पर सूक्ष्म विवेचन करते हुए दिव्य देशना दी। इस देशना से बोध प्राप्त कर हजारों नर-नारियो ने अणगार धर्म स्वीकार किया, अगणित लोगो ने आगार धर्म (श्रावक धर्म) की साधना प्रारम्भ की, चार तीर्थ की स्थापना हुई।

प्रभु नमिनाथ ने अन्त समय मे एक मास के अनशन से सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र ७।११

□□

२२

भगवान नेमिनाथ
(अरिष्टनेमि)

● सारिणी

जन्मस्थान	सोरियपुर
पिता	समुद्रविजय
माता	शिवादेवी
जन्मतिथि	श्रावण शुक्ला ५
दीक्षा तिथि	श्रावण कृष्णा ६
केवलज्ञान	आश्विन शुक्ला १५
शिष्य सम्पदा	अठारह हजार श्रमण चालीस हजार श्रमणी ।
चिह्न	शख
निर्वाणतिथि	आषाढ शुक्ल ८ (सायकाल)

भगवान नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) भारतीय सस्कृति मे करुणा के महान अवतार माने जाते है। दूसरो का कष्ट दूर कर उन्हे जीवन दान देना, दूसरो के सुख के लिए स्वय के सुख एव

सेनापति आगे बढ़ा—"यह हमारा अपराधी है, इसको छोड़ दीजिये, वर्ना इसकी सजा आपको मिलेगी ।"

राजकुमार ने दृढ़ता के साथ कहा—"यह जरूर भाग करके आया होगा, लेकिन अब इसने मुझसे शरण माँग ली। शरणागत को ठुकराना मेरा धर्म नहीं है, आप लौट जाइये ।"

दोनों ओर से तनातनी बढ़ी और आखिर तलवारें चल पड़ीं। पर, राजकुमार और मित्र के समक्ष, सेना टिक नहीं सकी उसके पाँव उखड़ गये। तभी राजा को खबर मिली कि आपके अपराधी को किसी ने शरण दी है और वह अकेला ही सेना के दाँत खट्टे कर रहा है। राजा भी अपनी सेना लेकर मोर्चे पर आया। राजकुमार के हाथ में बिजली की तरह तलवार चमक रही थी, उसके पराक्रम के सामने किसी के पाँव नहीं टिक रहे थे। राजा के मंत्री ने कहा—"महाराज! आपने इस अद्भुत वीर राजकुमार को नहीं पहचाना! यह तो आपके मित्र महाराज हरिनंदी का पुत्र है अपराजित कुमार!"

अपराजित को पहचानते ही राजा ने तलवार फेंक दी। युद्ध बन्द हो गया। कुमार को उठाकर उसने गले से लगा लिया। कुमार ने भी राजा से क्षमा माँगी। अपराधी को छोड़ दिया गया और राजा कुमार को साथ लेकर अपने महलों में आया। कुमार की अद्भुत वीरता, उदारता आदि गुणों पर राजा मुग्ध हो उठा था। अवसर का लाभ उठाकर उसने

अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह राजकुमार के साथ कर दिया।

□ □ □

एक दिन कुमार ने अपने मित्र विमल से कहा—"महलों की चार दीवारी के भीतर बन्द रहते-रहते मेरा मन ऊबने लग गया है। यहां न तो मैं स्वतन्त्रता की सांस ले सकता हूँ और न दुःखी पीडित-अनाथ लोगों की कुछ सहायता कर सकता हूँ। मेरा पराक्रम और उत्साह यदि जनता की भलाई न कर सका तो वह म्यान में पड़ी जंग खाई तलवार की भाँति बेकार होगा। आओ! इस घेरे से बाहर कहीं दूर चलें, संसार को देखें, परखें।"

विमल भी उत्साही था दोनों शस्त्र धारण कर घोड़ों पर सवार हुए और निकल पड़े किसी अनजानी राह पर।

पूनम की रात थी, आकाश में चांद मुस्कराकर जैसे इन दोनों का स्वागत कर रहा था—"वीरो! बढ़ो! दुःखी असहाय प्रजा तुम्हें पुकार रही है!" दूधिया चाँदनी चारों ओर छितरी हुई थी, जंगल के शान्त, निर्जन पथ पर दोनों साहसी कुमार बढ़े जा रहे थे। अचानक एक नारी का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ा। दोनों मित्र उसी दिशा में बढ़े। झाड़ियों के एक घने झुरमुट के बीच कुछ प्रकाश दिखाई दिया, आगे बढ़कर देखा तो वहां अग्नि की तेज ज्वालाएँ धधक रही थी। वे निकट आये, देखा—कोई सुकुमार सुंदरी विलख रही है, चीत्कारें

कर रही है—"मुझे मत मारो, कोई बचाओ !" सामने एक युवक हाथ में नंगी तलवार लिए खड़ा है, तलवार का भय दिखाकर सुन्दरी को कह रहा है—"बोल ! मुझे चाहती है या नहीं ! मुझे स्वीकार करेगी न ?" मौत के मुंह पर खड़ी वह नारी फिर भी रोष पूर्वक सिर हिलाकर कहती है—"नहीं ! नहीं ! भगवान ! मुझे बचाओ ! मेरा पति तो अपराजितकुमार ही होगा और कोई नहीं !"

एक अज्ञात नारी के मुंह से इस दशा में अपना नाम सुनकर कुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ, फिर सोचा—"नाम से दुनियाँ भरी है, इसका अपराजित कोई और होगा" किन्तु इस दर्दनाक दृश्य को देखकर कुमार का हृदय तड़फ उठा, उसने अपनी तलवार खींची और झपटकर आगे बढ़ा—"सावधान ! दुष्ट ! क्या करने जा रहे हो ?"

युवक चौंककर कुमार की ओर बढ़ा, किन्तु उसके तेजस्वी चेहरे और हाथ में चमकते खड्ग को देखकर उस पर प्रहार करने की हिम्मत नहीं हुई। वह बोला—"तुम कौन हो ! चले जाओ यहाँ से ! मुझे अपना काम करने दो ! बीच में दखल दिया तो पहला प्रहार तुम पर ही होगा !"

अपराजित ने उसे धिक्कारपूर्वक ललकारा—"दुष्ट ! कायर ! एक अबला नारी पर क्या बल आजमा रहा है। भुजाओं में बल है तो आ ! युद्ध कर !"

युवक अपराजित पर लपका, पर उसने उल्टा प्रहार कर

एक ही वार मे उसे घायल कर दिया। युवक भूमि पर गिर पडा। शरीर से रक्त की धाराएँ वहने लगी। तभी विमल ने उस नारी को भी मुक्त कर दिया।

घायल युवक भूमि पर पडा सिसक रहा था। कुमार ने उससे कहा—वोल, अव क्या चाहता है ?

युवक ने हाथ जोडकर कहा—"वस, मुझे क्षमा कर दो और सबसे पहले यह लो दिव्य जडी, इसको घिस कर मेरे घावो पर लेप करो, स्वस्थ होकर में अपनी कहानी तुम्हे सुनाऊँगा।"

कुमारने जडी को जल मे घिसकर लगाया तो शीघ्र ही उसके घावो की पीडा कम हो गई। युवक स्वस्थ होकर उठा और वोला—"मैं एक विद्याधर का पुत्र हूँ, यह कन्या भी एक विद्याधर राजा की पुत्री है रत्नमाला। वहुत समय से इसके सौन्दर्य पर मैं मुग्ध हूँ, किन्तु यह वरावर इनकार करती आ रही है। मैंने हजारो प्रयत्न किये, इसे प्रसन्न करने के, लेकिन यह तो अव भी मुझ पर थूक रही है। किसी ज्ञानी ने वताया था कि इसका पति कोई अपराजित नाम का राजकुमार होगा, यह तव से वस उसी का ध्यान धर रही है, और मेरी मनुहारो पर थूक देती है इसीलिए आज अपहरण कर इसको यहाँ लाया और भय दिखाकर अपनी पत्नी वनाना चाहता था।"

युवक की वात सुनकर कुमार मन-ही-मन हसा, और वोला—'मूर्ख ! क्या प्रेम भी कभी जवर्दस्ती हो सकता है। यह तो हृदय की भूमि पर खिलने वाला कोमल फूल है, इसे भय

और जबरदस्ती की थोड़ी-सी भी धूप लगी तो यह मुर्झा जाता है। सहज स्नेह, मधुरता और निश्छलता की जलवायु में ही इसका विकास होता है। क्या तुझे पता नहीं, किसी को भय और त्रास दिखाकर तू उसका दिल जीत सकता है?"

युवक ने नीचा सिर कर लिया और हाथ जोड़कर पुनः क्षमा मांगी—'मेरी भूल हुई! आज आप यहाँ आ गये तो इस बाला की जान बच गई वर्ना मैं तो इसे अग्नि ज्वालाओं में होम देने वाला था। मेरा निश्चय था, आज अन्तिम निर्णय कर लेना है, यह मुझे स्वीकार करती है तो लेकर इस अपने महल में चला आऊँगा, वर्ना अग्नि कुंड में होम दूँगा।"

युवक की क्रूर वाणी सुनकर दूर खड़ी कन्या भय से पुनः काँप उठी। अपराजित कुमार ने उसे धैर्य बंधाया—"डरो मत! अब शीघ्र ही तुम अपने माता-पिता से मिल जाओगी और आशा है अपने प्रिय को भी बहुत शीघ्र पा लोगी।" कुमार के शब्दों ने टिम-टिमाते दीपक में जैसे घी डाल दिया हो। रत्नमाला की आँखों में चमक आ गई, उसके सूखे सूखे होठों पर खुशी की गुलाबी छा गई।

युवक ने अपराजित से और रत्नमाला से पुनः क्षमा माँगी और बोला—"कृपा कर अब कुछ अपना भी परिचय दीजिये।"

विमल ने कुमार का परिचय दिया। युवक हँस पड़ा—"अरे हाँ! तब तो अपनी वस्तु की रक्षा के लिए ही आप

आपको यहा भेजा है आप कितने भाग्यशाली है।" रत्नमाला की आखे भी लाज से कुछ नीची झुक गई, मधुर स्मित उसके होठो पर बिखर गया और समूचे शरीर मे हर्ष की बिजली-सी दौड गई।

यह वार्तालाप चल ही रहा था कि रत्नमाला के पिता उसकी खोज करते-करते उधर आ पहुँचे। सब लोगो का परिचय हुआ और राजा ने बडे ही उत्साह व धूमधाम के साथ रत्नमाला का पाणिग्रहण कुमार अपराजित के साथ कर दिया इस खुशी के अवसर पर युवक ने कुमार को एक दिव्यमणि, दिव्य जडी और रूप परावर्तिनी गुटिका भेट दी।

रोगी राजा का उपचार

अपराजित कुमार कुछ दिन वहा रहा, किन्तु नव-परिणीता का मधुर स्नेह और राजसी वैभव उसे अधिक दिन रोक नही सका, उसके मन मे तो एक लगन थी, घूम-घूम कर दुनिया देखना और दु खी व पीडित लोगो के कष्ट दूर करना। एक दिन फिर वह अपने मित्र के साथ यात्रा पर निकल पडा। जगलो और पहाडों को पार करता हुआ कुमार जहां कही भी कोई दु खी, असहाय दीख पडता उसका दु ख दूर करता, उसे सहारा देता, अपनी जान हथेली पर रखकर भी वह दूसरो की जान बचाने का प्रयत्न करता। दुष्टो, आततायियो और राक्षसो के आतक से लोगो को मुक्ति दिलाता हुआ कुमार श्री मन्दिरपुर नाम के नगर मे पहुँचा। उस नगर मे लोगो के चेहरो पर अजीब घबराहट छाई हुई थी। न कोई चहल-पहल और न कोई हसी

और जबर्दस्ती की थोड़ी-सी भी धूप लगी तो यह मुर्झा जाता है। सहज स्नेह मधुरता और निश्छलता की जलवायु में ही इसका विकास होता है क्या तुझे पता नहीं, किसी को भय और त्रास दिखाकर तू उसका दिल जीत सकता है ?"

युवक ने नीचा सिर कर लिया और हाथ जोड़कर पुनः क्षमा मांगी— 'मेरी भूल हुई ! आज आप यहाँ आ गए तो इस बाला की जान बच गई, वर्ना मैं तो इसे अग्नि ज्वालाओं में होम देने वाला था। मेरा निश्चय था, आज अन्तिम निर्णय कर लेना है, यह मुझे स्वीकार करती है तो लेकर इस भव्य महल में चला आऊँगा, वर्ना अग्नि कुंड में होम दूंगा।"

युवक की क्रूर वाणी सुनकर दूर खड़ी कन्या भय से पुनः काँप उठी ! अपराजित कुमार ने उसे धैर्य बंधाया—"बहन ! अब शीघ्र ही तुम अपने माता-पिता से मिल सकोगी और आशा है अपने प्रिय को भी बहुत शीघ्र पा जाओगी !" कुमार के शब्दों ने टिम-टिमाते दीपक में जैसे घी डाल दिया हो। रत्नमाला की आँखों में चमक आ गई, उसके सूखे-सूखे होठों पर खुशी की गुलाबी छा गई।

युवक ने अपराजित से और रत्नमाला से पुनः क्षमा माँगी और बोला—"कृपा कर, अब कुछ अपना भी परिचय दीजिये।"

विमल ने कुमार का परिचय दिया। युवक हँस पड़ा—"अहा हा ! तब तो अपनी वस्तु की रक्षा के लिए ही भाग्य ने

आपको यहाँ भेजा है आप कितने भाग्यशाली हैं।" रत्नमाला की आखे भी लाज से कुछ नीची झुक गईं, मधुर स्मित उसके होठो पर विखर गया और समूचे शरीर मे हर्ष की विजली-सी दौड गई।

यह वार्तालाप चल ही रहा था कि रत्नमाला के पिता उसकी खोज करते-करते उधर आ पहुँचे। सब लोगो का परिचय हुआ और राजा ने वडे ही उत्साह व धूमधाम के साथ रत्नमाला का पाणिग्रहण कुमार अपराजित के साथ कर दिया इस खुशी के अवसर पर युवक ने कुमार को एक दिव्यमणि, दिव्य जडी और रूप परावर्तिनी गुटिका भेट दी।

रोगी राजा का उपचार

अपराजित कुमार कुछ दिन वहा रहा, किन्तु नव-परिणीता का मधुर स्नेह और राजसी वैभव उसे अधिक दिन रोक नही सका, उसके मन मे तो एक लगन थी, घूम-घूम कर दुनिया देखना और दु खी व पीडित लोगो के कष्ट दूर करना। एक दिन फिर वह अपने मित्र के साथ यात्रा पर निकल पडा। जगलो और पहाडो को पार करता हुआ कुमार जहाँ कही भी कोई दु खी, असहाय दीख पडता उसका दु ख दूर करता, उसे सहारा देता, अपनी जान हथेली पर रखकर भी वह दूसरो की जान बचाने का प्रयत्न करता। दुष्टो, आततायियो और राक्षसो के आतक मे लोगो को मुक्ति दिलाता हुआ कुमार श्री मन्दिरपुर नाम के नगर मे पहुँचा। उस नगर मे लोगो के चेहरो पर अजीब घबराहट छाई हुई थी। न कोई चहल-पहल और न कोई हँसी

खुशी। लगता था जैसे पूरे नगर पर मौत का साया पड़ा हो। कुमार ने लोगों से पूछा—तो पता चला कि—"इस नगर का राजा किसी भयंकर रोग से पीड़ित है कोई उपचार नहीं लग रहा है और अब पता नहीं क्या हो जाय।"

कुमार ने कहा—"मैं तुम्हारे राजा को स्वस्थ कर सकता हूँ जाओ उन्हें सूचना दो।"

राजा के पास जब यह संवाद पहुँचा तो उसे लगा जैसे भयंकर अंधकार के बीच एक प्रकाश किरण चमक उठी हो। कुमार को सम्मान के साथ राजमहल में बुलाया गया। राजा ने हाथ जोड़कर जीवनदान देने की प्रार्थना की। कुमार तो परोपकार के लिए ही यहाँ आया था। उसने विद्याधर द्वारा दी गई मणि और जड़ी के प्रयोग से राजा का रोग दूर कर दिया। सर्वत्र खुशी की लहर दौड़ गई। राजा ने जब कुमार का परिचय जाना तो वह भी हर्ष से झूम उठा—"ओह! तुम्हारे पिता महाराज हरिनन्दी तो मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, आज तुमने मुझे जीवन दान देकर महान उपकार किया है।" फिर इस हर्ष में राजा ने अपनी अनन्य रूपवती पुत्री रम्भा का पाणिग्रहण कुमार के साथ कर दिया।

अपराजित कुमार कुछ दिन वहाँ रहा, किन्तु उसे तो पर्यटन का शौक लगा था, फिर अपने मित्र के साथ वह आगे चल पड़ा।

कुछ दिन बाद एक नगर में पहुँचे। वहाँ पर देखा कि ए

ज्ञानी मुनि का प्रवचन हो रहा है, हजारो लोग उपदेश सुन रहे हैं। कुमार भी वहाँ रुक गया और उपदेश सुना। मुनि का उपदेश सुनकर उसके मन मे एक जिज्ञासा उठी—"क्या मैं भी कभी ससार से मुक्त होकर साधना कर सकूँगा और परम मोक्ष पद प्राप्त कर पाऊँगा ?"

दोनो ही मित्र मुनि के पास आये और वदना करके बोले—"महाराज ! हमारी एक जिज्ञासा है, कृपा कर समाधान कीजिए।"

मुनि सर्वज्ञ थे, घट-घट की भावनाएँ पहचानते थे। मुनि ने कहा—"भव्य ! तुम दोनो जो पूछना चाहते हो वह मैं जानता हूँ, कुमार अपराजित भविष्य मे बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि बनोगे, सब कर्म बन्धनो से मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त करोगे और तुम्हारा मित्र विमलबोध वरदत्त नाम का तुम्हारा प्रथम गणधर होगा।"

प्रीतिमती से पाणिग्रहण

केवली मुनि के उत्तर से दोनो ही बडे प्रसन्न हुए और आगे चल पडे। दोनो एक जयानन्द नामक नगर मे पहुँचे वहा की राजकुमारी थी प्रीतिमती। वह अपने अद्‌भुत सौन्दर्य और विलक्षण बुद्धि के लिए दूर-दूर तक विख्यात थी। सुन्दरता से भी अधिक उसे अपनी बुद्धि का अभिमान था। उसने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो पुरुष मेरे प्रश्नो (पहेलियो) का उत्तर देगा उसी के साथ मैं विवाह करूँगी। राजा ने प्रीतिमती का स्वयवर

खुशी । लगता था जैसे पूरे नगर पर मौत का साया पड़ा हो। कुमार ने लोगो से पूछा—तो पता चला कि—'इस नगर का राजा किसी भयंकर रोग से पीडित है, कोई उपचार नहीं लग रहा है और अब पता नहीं क्या हो जाय ।"

कुमार ने कहा—'मैं तुम्हारे राजा को स्वस्थ कर सकता हूँ जाओ उन्हे सूचना दो ।"

राजा के पास जब यह सवाद पहुँचा तो उसे लगा जैसे भयंकर अधकार के बीच एक प्रकाश किरण चमक उठी हो। कुमार को सम्मान के साथ राजमहलो मे बुलाया गया । राजा ने हाथ जोडकर जीवनदान देने की प्रार्थना की । कुमार तो परोपकार के लिए ही यहाँ आया था । उसने विद्याधर युवक द्वारा दी गई मणि और जडी के प्रयोग से राजा का रोग दूर कर दिया । सर्वत्र खुशी की लहर दौड गई । राजा ने जब कुमार का परिचय जाना तो वह भी हर्ष मे झूम उठा—"ओह ! तुम्हारे पिता महाराज हरिनन्दी तो मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, आज तुमने मुझे जीवन दान देकर महान उपकार किया है ।" फिर इस हर्ष मे राजा ने अपनी अनन्य रूपवती पुत्री रंभा का पाणिग्रहण कुमार के साथ कर दिया ।

अपराजित कुमार कुछ दिन वहा रुका, किन्तु उसे तो पर्यटन का शौक लगा था, फिर अपने मित्र के साथ वह आगे चल पडा ।

कुछ दिन बाद एक नगर मे पहुँचे । वहा पर देखा कि एक

ज्ञानी मुनि का प्रवचन हो रहा है, हजारो लोग उपदेश सुन रहे है। कुमार भी वहाँ रुक गया और उपदेश सुना। मुनि का उपदश सुनकर उसके मन मे एक जिज्ञासा उठी—"क्या मैं भी कभी ससार से मुक्त होकर साधना कर सकूगा और परम मोक्ष पद प्राप्त कर पाऊँगा ?"

दोनो ही मित्र मुनि के पास आये और वदना करके बोले—"महाराज ! हमारी एक जिज्ञासा है, कृपा कर समाधान कीजिए।"

मुनि सर्वज्ञ थे, घट-घट की भावनाएँ पहचानते थे। मुनि ने कहा—"भव्य ! तुम दोनो जो पूछना चाहते हो वह मैं जानता हूँ, कुमार अपराजित भविष्य मे बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि बनोगे, सर्व कर्म बन्धनो से मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त करोगे और तुम्हारा मित्र विमलबोध वरदत्त नाम का तुम्हारा प्रथम गणधर होगा।"

प्रीतिमती से पाणिग्रहण

केवली मुनि के उत्तर से दोनो ही बडे प्रसन्न हुए और आगे चल पडे। दोनो एक जयानन्द नामक नगर म पहुँचे वहा की राजकुमारी थी प्रीतिमती। वह अपने अद्भुत सौदर्य और विलक्षण बुद्धि के लिए दूर-दूर तक विख्यात थी। सुन्दरता से भी अधिक उसे अपनी बुद्धि का अभिमान था। उसने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो पुरुष मेरे प्रश्नो (पहेलियो) का उत्तर देगा उसी के साथ मैं विवाह करूँगी। राजा ने प्रीतिमती का स्वयवर

रचा, हजारों वीर राजा और अनेक विद्वान वहाँ आ रहे थे, नगर में बड़ी चहल-पहल मची थी। कुमार ने यह सुना तो उसे भी ऐसी बुद्धिमती राजकुमारी से मिलने का शौक चराया, पर उसने सोचा—"राजकुमार के वेष में न जाकर साधारण वेष में ही वहाँ जाना चाहिए।" युवक विद्याधर द्वारा प्रेषित गुटिका से उसने अपना रूप बदला और जाकर स्वयंवर मंडप में एक ओर बैठ गया।

बड़े-बड़े राजा और राजकुमार, उत्सुक होकर राजकुमारी की तरफ देखते थे, वे वीर तो थे, किन्तु राजकुमारी के विचित्र प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता किसी में नहीं थी। राजकुमारी किसी वीर और बुद्धिमान पति की खोज कर रही थी। सबसे अन्त में साधारण वेष में बैठे अपराजित कुमार के पास राजकुमारी पहुँची। कुमार को देखते ही उसके हृदय में अज्ञात स्नेह की लहरें उठने लगीं। फिर भी उसने अपने को मर्यादा में रखा और कई जटिल प्रश्न किये।

अपराजित ने चुटकियाँ बजाते ही सब प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे दिया। राजकुमारी ने हर्षोल्लास के साथ उसके गले में वरमाला डाल दी।[1]

---

१ पिछले कई जन्मों से प्रीतिमती के साथ कुमार का स्नेह सम्बन्ध रहा था और आगे अरिष्टनेमि के नौवें भव तक दोनों साथ-साथ पति-पत्नी का रूप लेते हुए नेमिनाथ और राजीमती के रूप में अवतरित होंगे।

कुमार की विलक्षण प्रतिभा के सामने समूची सभा स्तभित थी, किन्तु उसका साधारण-सा रूप और वेप-भूपा देखकर उनके मन मे ईर्ष्या जाग उठी। उन्हे अपनी भयकर हार लगी, कि बडे-बडे वीर राजा तरसते ही रहे और एक अदना आदमी मैदान जीत गया। राजाओ ने उसे युद्ध के लिए ललकारा—"आओ ! या तो युद्ध करो, वर्ना राजकुमारी को छोड दो।'

अपराजित—"मैने कन्या को अपने बुद्धिवल से जीता है, तुम्हारी तरह प्रेम की भीख नही मागी है, यदि तुम लोगो की भुजाओ मे वल है तो लो, उसकी भी परीक्षा करलो।"

वात-की-वात मे विवाह मडप रण क्षेत्र वन गया। कुमार ने ऐसा अद्भुत रण कौशल और पराक्रम दिखाया कि सभी राजा हार मान गये। अन्त मे कुमार ने अपना असली रूप प्रगट किया। जिसे भी पता चला कि यह महान पराक्रमी राकुमार अपराजित है, तो वस वही चकित हो उसकी ओर देखता रह गया। प्रीतिमती के हर्ष का अब कोई पार नही रहा, वह जैसा वीर और बुद्धिमान पति चाहती थी वैसा ही उसे मिल गया। धूम-धाम से विवाह सम्पन्न कर आनन्द से रहने लगा।

पुन घर की ओर

जव से अपराजित कुमार घर छोडकर यात्रा पर निकला था, उसके माता-पिता वडे बेचैन हो रहे थे। वे खाना-पीना, सुख-चैन सव भूल गये और रात-दिन पुत्र की चिंता मे ग्वे

रहते। होता ही है, किसी का इकलौता पुत्र खो जाय तो उसका कलेजा ही बैठ जाता है। बहुत खोजबीन करने पर भी कोई पता नहीं चला कि कुमार अपने मित्र विमल के साथ कहाँ गया है।"

प्रीतिमती के स्वयंवर में दिखाये गये पराक्रम की चर्चा जब उनके माता-पिता ने सुनी तो वे हर्ष से बाँसों उछल पड़े। राजा ने अपना दूत कुमार को बुलाने के लिए भेजा। दूत के मुह से माता-पिता के दुख का समाचार सुनते ही कुमार तत्क्षण अपनी राजधानी की ओर लौट आया। रास्ते मे पाणिगृहित सभी पत्नियो और अपार धन वैभव के साथ जब वह अपने नगर मे पहुँचा तो हजारो लाखो लोग उस पर खुशी के फूल बरसाने उमड पडे। भारी स्वागत-सत्कार के बाद राजकुमार महलो मे पहुँचा। माता-पिता को नमस्कार किया। माता पिता कुछ तो अवस्था के कारण जर्जर हो चुके थे और फिर पुत्र के लम्बे वियोग के कारण उनका शरीर और भी सूखकर काँटा हो गया था। किन्तु आज फिर पतझर के बाद वसन्त के प्राणदायी-पवन स्पर्श की भाँति माता-पिता का तन मन प्रफुल्लित हो उठा था।

कुछ दिनो बाद राजा हरिनन्दी ने अपराजित को राज्य सत्ता सौंपकर दीक्षा ले ली और आत्म-साधना करने लगा।

अपराजित राजा, यद्यपि अपार राज वैभव का भोग कर रहा था। रूप लावण्यवती सुन्दरियो से उसके अन्त पुर रुन झुन

कर रहे थे किन्तु फिर भी उसका हृदय उन सबसे उदासीन और विरक्त-सा रहता था। वह जहा कही परोपकार का प्रसग देखता, अपने प्राण खतरे मे डालकर भी उधर चला जाता। इस प्रकार उसका जीवन सुख-भोग के लिए नही, किंतु जन कल्याण के लिए लगा रहा।

एक वार राजा अपनी सर्वाधिक प्रिय रानी प्रीतिमती के साथ उद्यान मे भ्रमण करने गया। वहाँ एक सार्थवाह का पुत्र भी क्रीडा कर रहा था। वह युवा था, वडा सुन्दर, साथ ही उसके शरीर पर वहुमूल्य हार आदि चमक रहे थे जो उसके विपुल वैभवशाली होने का सकेत देते थे। राजा ने उसे देखकर सोचा—"सचमुच मेरे नगर के लोग कितने सुखी और कितने वैभवशाली है ?"

दूसरे दिन राजा पुन नगर के वाहर नदी तट की ओर भ्रमण करने निकला। वहाँ घूम रहा था कि कुछ लोग कन्धो पर अर्थी लिए विलाप करते हुए उधर आते दिखलाई दिये। मृत व्यक्ति की शवयात्रा देकर सहसा राजा के मन पर भी उदासी छा गई। उसने अपने अनुचरो से पूछा—"यह कौन है ? अनुचर ने पता करके वताया—"महाराज ! यह अमुक सार्थवाह का तरुण पुत्र अनगदेव है, कल जिसे आपने उद्यान मे क्रीडा करते देखा था वही है अकस्मात् कोई रोग हुआ, कुछ भी दवा नही लग सकी और चल वसा ।"

राजा एक दम उदास हो गया, कल का मधुर दृश्य और आज की यह वीभत्स शव यात्रा ! जो युवक कल विल्कुल स्वस्थ

था, मस्ती मे क्रीडा कर रहा था, वह अचानक या क्रूर काल का शिकार हो गया यह अपार धन ! वैभव ! यौवन और सुन्दर रमणिया कोई भी मृत्यु के मुह मे जाते हुए को बचा नही सकते !" राजा का हृदय वही विरक्त हो गया। ससार म उसे बिल्कुल उदासीनता हो गई। घर आकर रानी प्रीतिमती को उसने उस युवक की मृत्यु का समाचार कहा तो प्रीतिमती भी उदास हो गई, उसे भी वैराग्य जागृत हुआ। दोनो ही विरक्त होकर आचार्य के पास प्रव्रजित हुए और कठोर सयम एव उग्रतपश्चरण की साधना मे जुट गये।

अपराजित मुनि एव प्रीतिमती आर्या, कठोर साधना करते हुए आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग मे जाते है, वहाँ भी दोनो का स्नेह सूत्र वैसा ही जुडा रहता है, वहाँ से पुन वे शख राजा व यशोमती रानी के रूप मे मानव देह धारण करते हैं। शखराजा अपने पूर्व सस्कारो के कारण उसी प्रकार परोपकार के कार्यो म जीवन झोक देते हैं, फिर ससार मे विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं और अत्यन्त उग्र साधना मे जुट जाते है। यहाँ तीर्थ कर गोत्र की उपलब्धि कर पुन स्वर्ग मे देव बनते हैं और वहा मे यशोमति की आत्मा राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती के रूप मे जन्म लेती हैं, शख राजा की आत्मा समुद्र विजय के घर पर कुमार अरिष्टनेमि के रूप मे जन्म धारण करते हैं।

यादव कुल मे जन्म

यमुना नदी के सुरम्य तट पर एक सुन्दर नगर बसा था सोरियपुर ! शौर्यशाली यादव कुल की यह राजधानी थी और

यहा के पराक्रमी राजा थे समुद्र विजय । समुद्र विजय की रानी थी शिवा । उनके चार पुत्र हुए—जिनमे अरिष्टनेमि सबसे बडे और सर्वाधिक तेजस्वी एव पराक्रमी थे।

समुद्रविजय के छोटे भाई थे वसुदेव। उनका भी बल-पराक्रम बडा अद्भुत था। वसुदेव की दो रानिया थी—बडी थी रोहिणी, जिसके पुत्र थे बलराम (बलभद्र) और छोटी रानी थी देवकी जिसके पराक्रमी पुत्र श्री कृष्ण हुए।

यादव कुल के हजारो राजकुमारो मे ये तीन राजकुमार बडे ही विलक्षण, अद्भुत पराक्रम वाले और महान तेजस्वी थे। तीनो की जोडी अलग ही दिखाई पडती थी और तीनो मे परस्पर घनिष्ठ स्नेह भी था। बलभद्र कुछ गौरवर्ण के थे, किन्तु अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण की देहकाति नील मणि की तरह श्याम छवि लिए हुए थी। श्री कृष्ण उम्र मे अरिष्टनेमि से काफी बडे थे। जब मथुरा के दुष्ट व क्रूर शासक कस का श्रीकृष्ण ने अन्त कर डाला था तो जरासध ने बदला लेने के के लिए यादवकुल का ही सर्वनाश कर डालने का सकल्प किया। श्रीकृष्ण के नेतृत्व मे यादव जाति अपनी सुरक्षा के लिए मातृभूमि छोडकर भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर जाकर बस गई। वहा पर जिस मनोहर नगरी का निर्माण हुआ—उसका नाम भारत के इतिहास मे प्रसिद्ध है—द्वारिका।

अरिष्टनेमि का जन्म उत्तर भारत के यमुना तट पर हुआ, किन्तु उनका कृतित्वपूर्ण जीवन पश्चिमी समुद्राचल पर ही

'हां !' कुमार बोले, और वे श्रीकृष्ण के तने हुए भुजदण्ड पर या झूम गये जैसे कोई वृक्ष की शाखा पर झूमने लगा हो। भुजाएं झुक गईं।

अब बारी थी अरिष्टनेमि की। उन्होंने अपनी भुजाएं तानी, श्रीकृष्ण उन पर झूमने लगे, पर भारी प्रयत्न के बाद भी कुमार की भुजाओं में लचक भी नहीं पड़ी।

वासुदेव अपने छोटे भाई के सामने हार मान गये और प्यार से उसका आलिंगन कर पीठ थप-थपाने लगे। इस हार में भी उन्हें बड़ा आनन्द मिला और भ्रातृ-गर्व से सीना दो हाथ फूल उठा।

इस घटना के बाद श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि का बहुत आदर करने लगे। साथ ही वे यह चाहने लगे कि कुमार अरिष्टनेमि विवाह करलें।[1] उधर समुद्रविजय आदि भी श्रीकृष्ण, पर जोर डालते थे कि वे नेमिकुमार को विवाह करने के लिए राजी

---

१ कुछ कथाकार कहते हैं—"अरिष्टनेमि का बल क्षीण करने के लिए श्रीकृष्ण ने उनके विवाह का आग्रह किया।" पर श्रीकृष्ण वासुदेव जैसे शलाका पुरुष के विषय में ऐसा अभिप्राय हृदय को कम छूता है। हो सकता है, वे यह भी सोचते हों—ऐसे महायशस्वी व पराक्रमी पुरुष की सन्तान भी अवश्य बड़ी वीर व पराक्रमी होगी और इनकी भांति वे भी यादव कुल के गौरव की रक्षा करेंगे।" यह विचार भी विवाह की प्रेरणा दे सकता है। —

करें। श्रीकृष्ण नेमिकुमार को अनेक तर्क-वितर्क और प्रसंगों से समझाने लगे, विवाह के लिए तैयार करने लगे, पर नेमिकुमार का एक ही दृढ उत्तर होता—"मैं विवाह नही करूँगा।"

भाभियों का मजाक

एक समय वसन्त की मादक बयार चल रही थी, समूची सृष्टि नवयौवना की भांति खिल रही थी। नगर के रसिक लोग वसन्त क्रीडा करने अपनी-अपनी प्रयसियों के साथ उपवनों, लता मण्डपों एवं कल-कल बहते झरनों के तटों पर जा रहे थे। श्रीकृष्ण भी सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि रानियों के साथ जल क्रीडा, पुष्पक्रीडा आदि में लीन थे। तभी अचानक कहीं से नेमिकुमार गुजरते दिखाई दिये। श्रीकृष्ण के संकेत से रानियों ने अपने देवर के साथ मजाक किया—"देवर जी! आपको अभी कोई जोडीदार नही मिली? खैर कोई बात नही, आओ हमारे साथ ही कुछ देर क्रीडा कर लो!"

भाभियों की मजाक का उत्तर देने नेमिकुमार रुके, तभी सब रानियों ने उन्हे घेर लिया, उनके कुंवारेपन पर बडे चुटीले व्यग्य कसने लगी। कोई उन पर पानी के छींटे डालकर भिगो रही थी, कोई फूलों की पखुडियाँ फेंक-फेंककर जैसे प्रहार कर रही थी और कोई चुटकियाँ ले रही थी—अभी बिचारे अकेले है, इन्हे सताओ मत! तभी किसी ने सात्वना देते हुए मीठी चुटकी ली—"देवरजी! फिकर मत करो, तुम काले हो तो क्या हुआ, काले को भी बहुत कन्याएँ मिलती है, हम तुम्हारे लिए

के बीच एक वेदना से भरा कोलाहल, करुण क्रन्दन भी उठ रहा था। पर इस आनन्द के समय मे उस कोलाहल का सुनने की फुरसत किसे थी? उस वातावरण मे नेमिकुमार ही एक ऐसे थे जिन पर खुशियो का नशा, आनन्द की लहर कुछ भी असर नही कर रही थी, वे वर राजा बनकर भी एक विरागी की भाति सजग, सावधान थे। उस करुण क्रन्दन ने सहसा उनके हृदय को उद्वेलित कर डाला। रथ से बाहर मुह निकालकर इधर-उधर देखा, कौन चीख रहा है? किस मूक प्राणी का है यह मर्मवेधी क्रन्दन! तभी उन्हे सामने एक बडा चारागाह सा दिखाई दिया—दीन हरिण, खरगोश, भेड, बकरिया, अगणित मूक पशु मोटे-मोटे रस्सो से बधे थे, पर उनकी वेदना भरी पुकार सुनने वाले कान तो सिर्फ नेमिकमार के ही पास थे।

"सारथि! रथ को रोको!"—कुमार की जोशीली आवाज सुनकर सारथि चौका, रथ को रोककर विस्मय से देखने लगा "क्या बात है कुमार?"

"यह हृदयवेधी करुण क्रन्दन क्यो हो रहा है? ये मूक पशु क्यो चीख रहे हैं? क्यो इन्हे रस्सो से बाँधकर पिजरो में बन्द किया गया है? क्या मेरे विवाह पर जहाँ चारो ओर खुशी के गीत गाये जा रहे है, इनका करुण-रोदन सुनने वाला कोई नही! जहाँ चारो ओर चेहरो पर हसी-खुशी के फूल खिल रहे है, इन अभागो के आसू पोछने वाला वहाँ कोई नही? मेरी आत्मा काप रही है, बताओ, इन्हे क्यो बाधा गया है?"

तोरण से लौट गये

सारथि कुमार की सहज-सरलता पर मन-ही-मन हँस पड़ा। "कितने भोले है और कितने कोमल ?" फिर बोला—"राजकुमार ! विवाह की खुशी मे तो इन्हे बांधा गया है ।" "है, क्या कहते हो ? विवाह की खुशी मे बन्धन ! किस लिए ?"

"राजकुमार ! आपकी बारात मे जो सैकडो-हजारो राजन्य, सेनापति, योद्धा, मल्ल और राजकुमार आये हैं, उनके स्वागत मे इनकी बलि दी जायेगी, इनके मास से मधुर भोजन पकाया जायेगा " कहते हुए सारथि की जीभ लडखडा गई।

"सच !" अत्यन्त विस्मय के साथ नेमिकुमार ने एक बार फिर उन मूक पशुओ की तीव्र छटपटाहट को देखा, करुण-क्रन्दन जैसे उनके हृदय पर भाले की तीखी नोक-सा चुभ रहा था। मेरे विवाह के लिए हजारो मूक पशुओ का बलिदान ! यह घोर हिंसा ! इस सब क्रूर पाप का भागी मैं बनूगा ? नही ! नही ! मैं इतना क्रूर नही हूँ ! इतना निदय नही ! मेरे लिए एक फूल की कली को भी कष्ट नही होने दूगा, ये तो पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, मूक पशु हैं !' नेमिकुमार कुछ क्षण विचारो मे गहरे डूब गये। तभी सारथि रथ आगे बढाने लगा तो कुमार ने पुन टोक दिया—"ठहर जाओ ! और अपना हीरो जडा मुकुट, मोतियो का हार, माणिक और पन्नो की अगूठिया उतार कर सारथि की ओर बढा दी—"सारथि ! इन्हे लो ! तुमने

मुझे एक अक्षम्य अपराध से, घोर पाप से बचा लिया। अब रथ को मोड़लो और वापस ले चलो, द्वारिका की ओर!

रथ वापस मुड़ा, तो एक अजीब कोलाहल मच गया। समुद्र विजय, श्रीकृष्ण आदि दौड़कर आये। सारथि को डाँटा-"अरे! रथ किधर ले जा रहे हो।" तभी नेमिकुमार ने कहा-"मैं अपनी एक क्षणिक खुशी के लिए अगणित प्राणियों के प्राण नहीं लूटना चाहता! मुझे नहीं मालूम था एक विवाह के लिए इतनी घोर हिंसाएँ करनी पड़ती हैं! मैं विवाह नहीं करूँगा।"

समुद्र विजय आदि के चेहरे फक हो गये। श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार को बहुत समझाया, पर उन्होंने एक भी नहीं मानी। तोरण द्वार पर आया हुआ वर राजा बिना ब्याहे ही वापस लौट गया। खुशी के उस लहमे में सर्वत्र चिंता, उदासी और शोक छा गया।

राह देखती रही

नेमिकुमार के वापस लौटने की खबर राजीमती ने सुनी तो उसकी छाती पर वज्र-सा आघात लगा, वह बेहोश होकर गिर पड़ी। उपचार कर स्वस्थ किया गया तो कुछ देर पागल की भाँति रोती रही—"मेरे प्राण! मुझे छोड़कर क्या चले गये? मेरा क्या अपराध हुआ? क्या मैं इतनी अभागिनी हूँ कि द्वार पर आकर भी तुमने मेरा मुँह देखना नहीं चाहा?" राजीमती विलाप करती हुई पुनः मूर्च्छित हो गई। फिर से होश में आई। माता-पिता और सखि-सहेलियों ने बहुत समझा

समझाया पर उसने एक नही सुनी। उसकी पीडा का अनुभव कौन कर सकता था ? जिसने रात दिन जग जगकर स्वप्नो का सुरम्य संसार बसाया था, कल्पना के मधुर महल खडे किये थे, आज एक ही तूफानी झटके मे वह सब ध्वस्त हो गया, उसका जीवन अंधड मे भटकी हुई किश्ती की भाँति निराधार हो गया। सखियो ने समझाया—"राजुल ! तुम इतनी चिंता न करो ! आखिर नेमिकुमार ने तुम्हारा वरण तो नहीं किया ? उससे भी सुन्दर और तेजस्वी राजकुमार तुम्हारे लिए तैयार है तुम रोती क्यो हो ?"

सखियो को फटकारती हुई राजुल बोली—"खबरदार ! जो ऐसी बात मुह से निकाली ! मैं तो नेमिकुमार की हो गई, वे ही मेरे स्वामी हैं, वे ही मेरे देवता है, वे ही मेरी भक्ति और पूजा है। मेरी उनकी प्रीति जन्म-जन्म की प्रीति है, वह टूट नही सकती, वे आयेंगे जरूर आयेगे और नही तो मैं उनके चरणो मे जाकर लुट जाऊँगी ।"

राजुल ने अपने समस्त शृ गार उतार दिये, एक सादा वेष पहने अब वह रात-दिन नेमिकुमार के आने की राह देखने लगी। उसे विश्वास था, "वे आयेंगे, जरूर आयेंगे।" मदमाता वसन्त निकल गया, रिमझिम बरसता सावन भी गुजर गया, राजुल की प्यासी आँखें तरसती रही, नेमिकुमार उसके द्वार की ओर नही लौटे।

सावन का महीना ! घनघोर घटाएँ उमड-उमड कर आई,

प्यासी धरती पर जम कर वरसी ! उधर नेमिकुमार आज
घर की भाँति वरसते, रहे ससार को मुक्त हस्त से दान, लगातार
एक वर्ष तक पर राजुल की प्यास तो नहीं बुझी, उसको
अपना इच्छित नहीं मिला और एक दिन[1] उसने सुना—
यदुकुल के सूर्य नेमिकुमार ससार त्याग कर दीक्षित हो गये
हैं। अणगार वनकर रैवताचल की ओर चले गये हैं, एकान्त
साधना करने।

हा, तो नेमिकुमार अव भगवान नेमिनाथ वन गये। दीक्षा
लेते समय उनके साथ एक हजार पुरुषो ने उनका अनुसरण कर
साधना का पथ स्वीकार किया। रैवत गिरि के अचलों में
गुफाओ, खण्डहरो और ग्राम-नगरो मे भ्रमण करते हुए भगवान
नेमिनाथ साधना का अखण्ड दीप जलाते रहे। पचपन दिन की
साधना के वाद एक दिन वे रैवत शिखर पर निमग्न ध्यान
मुद्रा लेकर खडे थे। घनघाति कर्म नष्ट हुए और प्रभु को
निरावरण केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अरिष्टनेमि अर्हत् वन
वासुदेव श्रीकृष्ण ने जव यह सुखद सवाद सुना तो पूरे राज
परिवार के साथ प्रभु की देशना सुनने को गये। असख्य देव
दानव और जगल के पशु पक्षी भी प्रभु के उस समवसरण में
अमृत-उपदेश सुनने को आये। प्रवचन सुनकर हजारों नरनारी
प्रतिवुद्ध हुए, कईयो ने दीक्षा ली, कईयो ने श्रावक धर्म स्वीकार
किया। चार तीर्थ की स्थापना कर श्रीअरिष्टनेमि वाईसवें
तीर्थंकर हुए।

---

१ श्रावण शुक्ला ६,

स्वामी के पद चिन्हो पर

राजीमती ने जब सुना, अरिष्टनेमि तीर्थंकर बन गये हैं। असख्य देव देवी उनकी चरण-धूलि पाने तरसते हैं। अनन्त दिव्य विभूतिया से सम्पन्न हुए वे जनपद मे सयम एव करुणा ममता का सन्देश दे रहे हैं, तो उसके विचारो ने नई करवट ली। अब तक वह प्रीतम के आने की राह देख रही थी, उनकी श्याम छवि मे बातें करती थी, पर अब हृदय को एक झटका लगा, स्नेह-सूत्र टूट गया। वह सोचन लगी—"मेरा स्वामी तो वीतराग बन गया है, मोह-ममता से मुक्त होकर भगवान बन गया है और मैं अभी भी मोह के दलदल मे फसी हूँ। क्या मैं स्वामी के पद चिह्नों पर नही चल सकती? मेरा स्वामी अनत विभूतियो से सम्पन्न बन गया और मैं ऐसी ही दरिद्र रह गई? नही! नही! अब मैं भी स्वामी के पथ पर चलूगी। मैं भी मोह को जीतूंगी, आत्मा की दिव्यज्योति जलाऊँगी और स्वामी की भाति ही अनन्त-ऋद्धि-सिद्धि की स्वामिनी बनूगी।"

राजीमती के दृढ सकल्प मे अद्भुत चमत्कार था, उसके निश्चय को बदलने की क्षमता किस मे थी! बस, बात-की-बात मे अनेक राजकन्याएँ उसके साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गयी और सब पहुँची प्रभु अरिष्टनेमि के चरणो मे। वासुदेव श्रीकृष्ण भी राजीमती के महान सकल्प के लिए बधाई देने पहुँचे—"राजुल! तुम अपने कुल एव वश का गौरव ध्वज फहराती हुई अपनी इस आत्म नौका को शीघ्र ही अथाह-अपार

भवसागर से पार ले जाने में समर्थ बनो—संसार सागर घोर तर करो जल्दु-जल्दु ।"[1]

दीक्षा लेकर राजीमती साधना के आग्नेय पथ पर बढ़ गई। जो कोमल चरण आज तक पृथ्वी का स्पर्श नहीं सह सकते थे वे आज ऊबड़-खाबड़ कंकरीले-पथरीले पथ पर बड़ी तेजी के साथ बढ़ते चले गये। ऐसा लगता था जैसे राजुल की सुकुमार देह एकदम फौलादी बन गई है। सेवा, तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान में उसने स्वयं को झोंक दिया।

रथनेमि को ललकार

एक बार महासती राजीमती अनेक श्रमणियों के साथ रैवत शिखर पर प्रभु के दर्शन करने को जा रही थी। रास्ते में अचानक मूसलाधार वर्षा होने लगी। काली कजरारी घटाओं से आकाश काला हो गया, बिजलियाँ कौंधने लगीं और बादलों की भयानक गर्जना से सारा वनप्रांतर काँपने लग गया। साध्वियों का झुंड गिरिकन्दराओं में आश्रय पाने के लिए इधर-उधर बिखर गया। राजीमती अकेली पड़ गयी, वह शीघ्र ही एक छोटी-सी अँधेरी गुफा में जाकर छिपी। तन के वस्त्र सब भीग गये थे ठण्डी हवा से और भी कंप-कंपी छूट रही थी।

एकान्त निर्जन स्थान देखकर राजीमती ने अपने वस्त्र निचोड़े और सुखाने के लिए एक चट्टान पर फैला दिये। बिजली

---

१ उत्तराध्ययन २२

की चमक मे उस अंधेरी गुफा मे भी कभी कभी एक तेज प्रकाश फैल जाता और वह सीधा राजीमती की स्वर्णिमा देह पर गिरता। सयाग ऐसा बना कि उसी गुफा मे एक कोने मे अरिष्टनेमि के छोटे भाई मुनि रथनेमि बैठे ध्यान कर रहे थे। बिजली की चमक मे जैसे ही उसे एक नारी का निर्वस्त्र स्वर्णिम देह चमकता दिखाई दिया उसका मन चचल हो उठा। वासना का सुप्त नाग फुकार उठा। रथनेमि अपने पर काबू नही कर सका और झट से उठकर उधर लपक पडा। पुन बिजली चमकी और रथनेमि को उस दिव्य नारी की मुखाकृति दिखाई पडी—'ओह! राजुल! राजुल!"

रथनेमि अपना होश भूल गये। वासना-व्याकुल हुआ वह आगे बढा। इस फुमफुमाहट मे राजीमती चौक उठी। सामने एक पुरुष आकृति आती दिखाई दी। उसने गीले वस्त्र तन पर लपेट लिए और सहमकर किसी चट्टान की ओट मे बैठ गई।

काम-विह्वल रथनेमि राजीमती के सामने आ खडा हुआ—"राजुल! छुपो मत! घबराओ मत! मैं कोई और नही, तुम्हारा ही प्रणय-पिपासु रथनेमि हूँ। दो बार तुमने मेरी प्रार्थनाओ को ठुकराया था, मेरे स्नेह भरे दिल को तोडा था, पर भाग्य की लिपि मे तुम्हारा-हमारा साथ लिखा था, आज इस रम्य वातावरण मे, एकान्त निजन स्थान मे तुम भी अकेली और मे भी! आओ! मेरी इच्छा पूरी करो!"

राजीमती एक बार कॉप उठी! रथनेमि के वचनो से उसके

शरीर मे विच्छू के मे तेज डक लग रहे थे। किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपना सिहनी रूप धारण कर लिया, एक कडकती हुई वाणी मे वोली—"दुष्ट रथनेमि तुम ! इतनी-इतनी फटकारें खाकर भी मेरा पीछा नही छोडा ? खबरदार जो आगे कदम बढा लिया ! मैं अब राजकुमारी राजुल नही, श्रमणी राजीमती हूँ और भान है कुछ तुम्हे ! तुम श्रमण रथनेमि हो ! विषय भोगो का जहर समझकर त्याग किया है, वासनाओ से मुक्त होने का सकल्प लिया है, क्या आज अपने पथ से भ्रष्ट हो रहे हो तुम ! धिक्कार है तुम्हे ! अच्छा होता, पथभ्रष्ट होने से पहले ही तुम मर जाते ! अपने कुल का, खानदान का और आत्मा को यह कलक तो नही लगता !"

राजीमती की तेजस्वी वाणी से रथनेमि के कदम डगमगाये। वह चुपचाप वही खडा हो गया। राजीमती लगातार उसे फटकारे सुनाती रही और सामने से हट जाने का ललकारती रही। रथनेमि का विवेक पुन लौट आया, उस सद्बुद्धि जागी, अपनी दुष्ट दुर्भावना पर पश्चात्ताप हुआ और वह महासती राजीमती से क्षमा याचना करने लगे। राजुल ने कहा—"जाओ ! भगवान अरिष्टनेमि के चरणो मे और अपने इन दुर्विचारो का प्रायश्चित्त करो ? आत्मा को पवित्र बनाओ !"

वर्षा बन्द हो गई, राजीमती आदि सभी श्रमणियाँ पुन अपने पथ पर आ मिलीं और सभी पहुँची प्रभु अरिष्टनेमि की वदना करने !

सदाचार का उपदेश

भगवान अरिष्टनेमि का विहार क्षेत्र मुख्यतः सौराष्ट्र ही रहा। द्वारिका और रैवत के गिरि प्राचल उनके पावन चरण स्पर्श से पवित्र होते रहे। उनके वैराग्यमय उपदेश सुनकर समय समय पर अनेकों नर-नारी, राजकुमार और राज-रानियाँ प्रतिबुद्ध होते रहे। भगवान अरिष्टनेमि ने अपने उप-देशों में संयम, अहिंसा और करुणा पर सर्वाधिक बल दिया। क्योंकि उस समय की यादव जाति समृद्धि के शिखर पर चढ रही थी, भोगों में अत्यन्त आसक्त हो रही थी और मद्य-मांस का सेवन खुले रूप में बढ रहा था। यादव जाति के प्रौढ पुरुषों में ही नहीं, किन्तु तरुण राजकुमारों में भी मदिरा पान की प्रवृत्ति भयंकर रूप से बढ रही थी और मांसाहार का भी खुला प्रचार हो रहा था। भगवान अरिष्टनेमि ने समय समय पर यादव जाति को चेताया, यह भोगासक्ति ही मनुष्य के सर्व-नाश का कारण होती है। मांसाहार और जीव हिंसा के विरुद्ध में तो अरिष्टनेमि का तोरण द्वार से लौटना ही एक बहुत बडा विरोध था, फिर मद्य सेवन के दुष्परिणामों में भी उन्होंने सब को सावधान किया। इस प्रकार उनके उपदेशों में नैतिकता सदाचार और करुणा की विशेष प्रेरणा भरी रहती थी।

भविष्यवाणी

एक बार भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान में पधारे। वासुदेव श्रीकृष्ण अपने परिवार के साथ प्रभु के दर्शन करने को गये। प्रवचन सुनने के बाद श्रीकृष्ण ने प्रभु से

एक प्रश्न पूछा—"भंते ! यह स्वर्ग के समान सुन्दर और रम णीय द्वारिका नगरी क्या सदा इसी रूप में रहेगी या इसका भी विनाश हो जायेगा ?"

प्रभु ने कहा—"वासुदेव ! इस देवपुरी के समान द्वारिका का विनाश बहुत शीघ्र होगा और उसके तीन कारण होंगे—मदिरा अग्नि और ऋषि !"

प्रभु का वचन सुनते ही श्रीकृष्ण गहरी चिंता में डूब गये इतनी सुन्दर ! इतनी रमणीय ! इस स्वर्गीय नगरी का विनाश होगा और मदिरा के कारण !" श्रीकृष्ण के मन को बहुत गहरा झटका लगा, उन्हें अनुभव हुआ—प्रभु ने इसी कारण बार-बार कहा है। मद्य-मांस का सेवन मनुष्य का विनाश की ओर ले जाता है। मदिरा के अनर्थकारी परिणामों की भयंकरता आज वासुदेव को बडी गम्भीरता से अनुभव हो रही थी। वे पुन प्रभु से पूछने लगे—"भंते ! इस विनाश से बचने का कोई उपाय भी है ?"

प्रभु ने कहा—"वासुदेव ! सर्वथा तो नहीं, किन्तु कालक्षेप जरूर हो सकता है। एक समय आयेगा, जब कुछ यादव कुमार मद्य के नशे में चूर होकर द्वैपायन नामक ऋषि का अपमान करेंगे, उनको कष्ट देंगे। ऋषि क्रुद्ध होकर उनको और उनकी इस नगरी को भस्म करने का संकल्प करेगा, फिर मृत्यु प्राप्त कर वह अग्निकुमार देव होगा और अपने पूर्व वैरानुबद्ध संकल्प के अनुसार इस नगरी को अग्नि की ज्वालाओं में होम देने के

लिए तत्पर होगा। किंतु जब तक इस नगरी का निवासी कोई भी नागरिक कुछ न कुछ तप (उपवास-आयम्बिल आदि) करता रहेगा तब तक इस नगरी का बाल भी बांका नहीं हो सकेगा।

प्रभु की भविष्यवाणी सचमुच एक बड़ी चेतावनी थी। श्रीकृष्ण ने तत्काल समूचे नगर में मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगा दिया और जहा भी, जितनी भी मदिरा तैयार थी सबको जगल म फिकवादी! सब प्रजा को उन्होंने सावधान कर दिया—"मद्यपान सर्वनाश का कारण है, अत आज से कोई भी मनुष्य मद्य सेवन न करे।"

होनहार

किन्तु होनहार को नमस्कार! बहाई हुई मदिरा भी कदम्बवन के शिला खण्डो मे पडी रही, एक दिन शाम्ब आदि यादव कुमार उसे पीकर नशे मे धुत्त गये। जगल मे तपस्या करते द्वैपायन ऋषि को देखकर उसे पीटने लगे—देखें, यह कैसे हमारी नगरी का नाश करेगा? इसे ही खत्म कर डालते हैं, न रहेगा बॉस न बजेगी बाँसुरी! यादवो ने ऋषि पर प्रहार किया, ऋषि ने क्रुद्ध होकर उनके नाश का सकल्प (नियाणा) किया और आखिर मे आयुष्यपूर्ण कर अग्निकुमार देव बना। देवता द्वारिका को भस्म करने के लिए लपक उठता है, किन्तु तपस्या के प्रभाव से उसका कुछ भी बल नही चला। हाथ मलता हुआ समय की टोह मे रहता है। ग्यारह वर्ष बीत

गये, बारहवें वर्ष में लोग बिसर गये, अब क्या देवता आयगा? तप साधना का क्रम टूटा और अग्निदेव को अवसर मिला, आकाश से अंगारों की वर्षा होने लगी, स्वर्ग सी द्वारिका देखते देखते अग्नि की ज्वालाओं में स्वाहा हो गई।

प्रभु अरिष्टनेमि की चेतावनी को लोगों ने भुलाया और उसका दुष्परिणाम आया—सर्वनाश!

परिनिर्वाण

भगवान अरिष्टनेमि अनेक जनपद में विहार कर संयम, अहिंसा, करुणा, सदाचार आदि का उपदेश करते रहे। उनके उपदेशों से प्रभावित हो, गजसुकुमार, ढंढणकुमार, थावच्चा पुत्र आदि अनेक राजकुमार एवं समृद्धि सम्पन्न श्रेष्ठी कुमारों ने प्रव्रज्या ग्रहण की, कठोर साधना कर अपना लक्ष्य सिद्ध किया। इसी के साथ वासुदेव श्रीकृष्ण की पटरानी पद्मावती तथा अन्य अनेक रानियां, केतुमंजरी आदि राजकुमारियाँ भी भगवान के उपदेशों से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षित हुई। इधर पांडवों ने जब द्वारिका-दहन का दुखद संवाद सुना तो उन्हें भयंकर चोट लगी। इस विनाश लीला को देखकर उन्हें भी वैराग्य हुआ और सभी पाण्डव दीक्षा लेकर आत्म-साधना करने लगे।

एक बार पाण्डव मुनि भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने के लिए सौराष्ट्र जनपद की ओर आ रहे थे। प्रभु के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा लिए लम्बा मार्ग तय कर चुके थे और सिर्फ बारह योजन का मार्ग बीच में रह गया था। वहीं पर

उन्होंने यह सुना कि भगवान अरिष्टनेमि उज्जयन्त शैल-शिखर पर एक मासिक अनशन के बाद निर्वाण का प्राप्त हो गये हैं।"

पाडव मुनियो को बडी निराशा हुई। मासखमण के पारणे के लिए आहार ले आये थे, किंतु अभी पारणा नही किया था, इस सवाद से उनका हृदय भी सर्वथा विरक्त हो गया। सामने रखे आहार पानी का त्याग कर वे भी शत्रुजय पवत पर गये, अनशन कर प्रभु की तरह ही निवाण पद का प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पव ८।१२

द्रष्टव्य

उत्तराध्ययन २२

आवश्यक निर्युक्ति

□□

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ	४० [illegible]
२	आम्र मजरी (द्वितीय सस्करण)	४ ००
३	अन्तर की ओर (भाग १)	३ ००
४	अन्तर की ओर (भाग २)	३ ००
५	ऐतिहासिक काव्य सग्रह	३ ००
६	योग शास्त्र	६ ००
७	श्रद्धाजलि (स्मृति ग्रन्थ का प्रथम खण्ड)	५ ००
८	जैन दृष्टि	१ ००
९	साधु वदना	१ ५०
१०	जागरण	० ७५
११	धर्म पथ	० ८०
१२	ज्योतिर्धर जय (द्वितीय सस्करण)	० ५०
१३	साधना के सूत्र	४ २५
१४	अग्निपथ	३ ००
१५	जैन कथामाला भाग १	१ ००
१६	,, ,, भाग २	१ ००
१७	,, ,, भाग ३	१ ००
१८	,, ,, भाग ४	१ ००
१९	,, ,, भाग ५	१ ००
२०	,, ,, भाग ६	१ ००

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार
ब्यावर

२३

भगवान पार्श्वनाथ

● सारिणी

जन्म स्थान	वाराणसी
पिता	अश्वसेन
माता	वामादेवी
जन्मतिथि	पौष वदि १०
दीक्षातिथि	पौष वदि ११
केवलज्ञान	चैत्र वदि ४
शिष्यसम्पदा	सोलह हजार श्रमण अड़तीस हजार श्रमणी
	नाग
	श्रावण सुदि ८

नाम क्षमा एव समता के देवता के

। अपराधी पर भी क्षमा

का व्यवहार

जीवन

२३

भगवान पार्श्वनाथ

• सारिणी

जन्म स्थान	वाराणसी
पिता	अश्वसेन
माता	वामादेवी
जन्मतिथि	पौष वदि १०
दीक्षातिथि	पौष वदि ११
केवलज्ञान	चैत्र वदि ४
शिष्यसम्पदा	सोलह हजार श्रमण अड़तीस हजार श्रमणी
चिह्न	नाग
निर्वाणतिथि	श्रावण सुदि ८

भगवान पार्श्वनाथ का नाम क्षमा एवं समता के देवता के रूप में सदा स्मरण किया जाता रहा है। अपराधी पर भी क्षमा करना, दुष्ट के साथ भी शिष्टता और सज्जनता का व्यवहार करना तथा शत्रु पर भी मित्र की भावना रखना, उनके जीवन

का महान आदर्श था। उनके पिछले जन्मो की कहानियाँ इस बात की साक्षी है कि कमठ नाम का दुष्ट कई जन्मो तक बराबर उनको कष्ट देता रहा, प्राणांत भी करता रहा, पर फिर भी उनकी महान आत्मा सदा ही उसे क्षमा करती रही, उसका भलाई की कामना ही करती रही। उनके पिछले जीवो का घटनाएँ पढिए —

बहुत समय पहले की बात है, विश्वभूति नाम का एक राज पुरोहित था। उसके दो पुत्र थे। बड़े का नाम कमठ था और छोटा था मरुभूति। दोनो भाइयो का जीवन पूरब-पश्चिम की तरह दो विरोधी दिशाओ मे जा रहा था। मरुभूति बहुत ही दयालु, सज्जन और सदाचारी था तो कमठ बड़ा क्रोधी, क्रूर, दुराचारी और अहंकारी। एक ही वृक्ष के दो फल—एक अमृत सा मीठा और एक जहर-सा कडुआ! कितनी विचित्र है नियति!

मरुभूति साधुजनो की सगति करता, उनका उपदेश सुनता और यथाशक्ति उनकी सेवा-शुश्रूषा भी करता रहता। उसका जीवन बड़ा आनन्दमय और सुख समृद्धि मे युक्त था। किन्तु कमठ के पास पिता की अपार सम्पत्ति होते हुए भी वह दुखी नही था, बात-बात मे झगडना, साधु सन्तो की निंदा करना और दूसरो की उन्नति देखकर जलते रहना, यही उसका स्वभाव था।

मरुभूति की पत्नी बडी रूपवती और नखरेबाज भी

कमठ अपने छोटे भाई की पत्नी के रूप सौन्दर्य पर आसक्त हो गया। वह रागाध होकर भूल गया कि छोटे भाई की पत्नी पुत्री के बराबर होती है। तरह-तरह के प्रलोभन और माया जाल से उसने उसको अपने चक्कर मे ले लिया और समय-बे समय वह उसी के साथ हसी क्रीडा करता रहता।

मरुभूति बडा सरल था, उसे इस बात की कल्पना भी नही थी कि जिस पत्नी को वह प्राणो से भी अधिक प्यार करता है, वही उसकी पीठ मे छुरा भोक देगी और किसी दूसरे पुरुष की अकशायिनी बन जायेगी। किन्तु कमठ की पत्नी बडी चालाक थी, अपने पति की चाल ढाल उससे छिपी नही रही, उसने दोनो की यह काली करतूतें देखी तो उसका कलेजा छलनी हो गया। उसनेकमठ को समझाया, परन्तु उल्टा चोर कोतवाल को डाटे, दुष्ट कमठ लाल आँखें कर उसे ही डाट फटकार बताने लगा— "खबरदार! जो ऐसी बात मुह से निकाली तो हड्डी पसली तोड डालूंगा।"

कमठ की पत्नी वसुधरा दाँत पीस के रह गई, पर अपनी आँखो के सामने यह दुराचार उससे देखा नही गया। जब पत्नी अपने पति को किसी दूसरी स्त्री के साथ अनाचार करते देखती है, तो सौ-सौ बिच्छुओ के डक से भी अधिक तीव्र पीडा मे वह छटपटाने लग जाती है। उसकी जान मे कुछ बाकी नही रह जाता। वसुधरा ने एक दिन एकान्त देखकर मरुभूति से कहा— "देवरजी! आप दिन भर अपने ही काम मे मस्त रहते हो,

कुछ अपनी देवीजी के हालचाल का भी पता है या नहीं? आपका यह भलापन अब भोलापन बन रहा है और पूरा घर चौपट हुआ जा रहा है ?"

मरुभूति ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भाभी ! क्या बात है? मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं।"

वसुधरा ने छाती पर पत्थर रखकर अपने पति और उसकी पत्नी की करतूतों का हाल बताया।

मरुभूति ने सरलता के साथ सिर हिलाया—"नहीं, मेरी पत्नी ऐसी नही हो सकती।"

वसुधरा—"अपनी पत्नी तो सभी को महासती लगती है, पर जरा आँख खोलकर देखो, अपने भाई की तरफ भी जरा ध्यान रखो !"

मरुभूति—"नही ! यदि वरुणा ऐसी हो भी जाय तब भी मेरा बडा भाई कमठ ऐसा अन्याय कभी नही कर सकता।"

वसुधरा—"देवरजी ! आप बहुत ही सरल हैं। यह सरलता इस घर का सर्वनाश कर रही है, मैं इतनी दुष्ट नहीं हूँ कि देवरानी की ईर्ष्या मे पति पर कलक लगाऊँ ! पर घर में जब यह कुकृत्य देखती हूँ तो मेरी छाती पर साँप लुलने लग जाते हैं। मन मे आता है, आँखें फोड लूँ ! जहर खाकर मर जाऊँ, यह दुराचार अपनी आँखो से न देखूँ।"

"अच्छा तो, मैं इसकी जाँच करूँगा।" मरुभूति ने कहा

और एक दिन मरुभूति किसी गाँव जाने का बहाना लेकर जगल मे चला गया। कमठ को घर मे अब पूरी स्वतन्त्रता थी, वह स्वच्छद होकर वरुणा के साथ काम-क्रीडा करने लगा। इधर मरुभूति भी एक योगी का रूप बनाकर घर पर भिक्षा के लिए आया। अपनी पत्नी को कमठ के साथ कामासक्त देखा तो उसका खून जल उठा। किन्तु फिर भी शान्ति रखी, पत्नी के प्रति उसे घृणा हो गई। उसका मन एकदम विरक्त हो गया—"हाय! कैसा है यह ससार! जिसे मैं अपनी प्राण प्रिया समझ बैठा हूँ वह तो किसी दूसरे से प्यार कर रही है। कितना झूठा है यह प्यार! यह प्यार नही धोखा है!" मरुभूति के दिल पर इतनी गहरी चोट लगी कि कुछ दिन तो वह पागल-सा घूमता रहा। कमठ को समझाने के लिए उसने अपने राजा के सामने जाकर सब हाल सुनाया। राजा ने कमठ को बुलाकर बहुत भर्त्सना दी और उसे देश से निकाल दिया।

इस घोर अपमान मे कमठ अपने भाई पर दात पीसने लगा। वह नगर से बाहर निकाल दिया गया, किन्तु उसने इस अपमान का बदला लेने की मन मे ठान ली।

कमठ कुछ दिन तो इधर-उधर भटकता रहा, पर कही भी उसकी दाल नही गली। अन्त मे हारकर उस ने एक जगल मे तपस्या शुरू कर दी। अपने चारो ओर अग्नि जलाकर बीच मे बैठ गया और आँखें मूद ली। ससार मे आडम्बर पूजा जाता है हजारो लोग कमठ की तपस्या की प्रशसा करने लगे और झुड के झुड उसकी वदना करने को आने लगे।

स्वर्णबाहु मुनि वहाँ से स्वर्ग मे गये और स्वर्ग से आयुष्य पूर्ण कर तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप मे अवतरित हुए दुष्ट कमठ ने यहाँ भी उनका पीछा नही छोडा। वह भी किसी गाँव मे एक दरिद्र ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ।

वाराणसी मे जन्म —

काशी जनपद की राजधानी थी वाराणसी। अध्यात्म, साहित्य, कला, उद्योग और राजनीति का यह प्रमुख केन्द्र थी। समृद्धि और वैभव के शिखर पर पहुँची हुई उस नगरी के पराक्रमी राजा थे अश्वसेन।

अश्वसेन की महारानी वामा ने एक रात चौदह महान स्वप्न देखे। ऐसे दिव्य स्वप्न आज तक कभी नही आये थे, रानी अत्यन्त प्रसन्न हो उठी और उसी समय वह महाराज के निकट आकर प्रणाम कर बोली—"महाराज! आज रात्रि को तो मैंने अभूत पूर्व एक से एक श्रेष्ठ चौदह महान स्वप्न देखे है।" स्वप्नों का विवरण सुनते ही राजा हर्ष से नाच उठा—"देवी! तुम महान भाग्यशालिनी हो! तुम्हारी इस रत्नकुक्षि से जिस सन्तान का जन्म होगा वह कोई महान पराक्रमी, धर्म नेता तीर्थंकर बनेगा। ऐसा मेरा अनुमान है।"

प्रसन्नता और आनन्द के वातावरण मे नौ महीने कुछ घडियों से गुजर गये। रानी ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। उसका रूप बडा मनोहर और सौम्य था। नीलोत्पल कमल को

भांति उसकी देह कान्ति कुछ नीली-छवि लिए हुए थी। वालक का नाम रखा गया पार्श्वकुमार।

नाग का उद्धार —

पार्श्वकुमार की प्रतिभा कुछ विलक्षण थी। वह किसी भी वात का समझने के लिए उसकी गहराई मे जाते, उसका विश्लेपण करते और फिर अपनी वौद्धिक चेतना से उसका निणय करते। वे इतने निर्भीक और साहसी थे कि, जो वात असत्य लगती उसे कभी स्वीकार नही करते, उसका जोरदार खण्डन कर ठुकरा देते, चाहे कहने वाला कितना ही वडा आदमी हो। वे अपने मित्रो और सेवको से यही वात कहते— "दु खी और पीडित को देखकर मुझे दया आती है, किन्तु असत्य और पाखडी के प्रति मेरा मन सदा कठोर रहता है। मैं अपराधी को क्षमा कर सकता हूँ किन्तु पाखडी को नही।" इसी कारण लोग उनके सामने असत्य वोलते कतराते थे और नगर का कोई भी पाखडी, मायाचारी, धम के नाम पर ठगने वाला उनके सामने नही आता था।

वाराणसी का अचल तापसो का केन्द्र था। नदी तटो पर और सुरम्य वनो मे सैकडो हजारो तापस विचित्र-विचित्र प्रकार की साधनाएँ, आडम्वर और मायाचार फैलाये वैठे थे।

एक दिन राजकुमार ने नगर के हजारो लोगो को एक ही दिशा मे जाते देखा। वहुतो के हाथो मे पूजा की सामग्री थी, उपहार की वस्तुएं थी और सभी खुशी-खुशी उधर जा रहे थे।

राजकुमार को आश्चर्य हुआ, एक सेवक से पूछा—"आज क्या बात है ? सभी लोग एक ही दिशा मे जा रहे है, कोई उत्सव है ?"

सेवक ने हाथ जोडकर बताया—"राजकुमार ! आपको नही मालूम ? नगर के बाहर एक बहुत बडा तपस्वी आया हुआ है, वह ऐसा वैसा ढोंगी नही है बडा प्रभावशाली और पहुंचा हुआ योगी है। उसने चारो ओर अग्नि जला रखी है और बीच मे स्वय बैठा सूर्य के सामने मुंह किये तपस्या करता है। लोग उसी की वदना-पूजा करने जा रहे है।"

"अच्छा ! तो चलो हम भी चलें ! देखे सचाई क्या है ! कोरा पाखडी है या सचमुच मे ही तपस्वी है ?" राजकुमार का आदेश सुनते ही सेवक ने घोडा लाकर खडा किया, राजकुमार अपने दो-चार सेवको के साथ कमठ के आश्रम की ओर चल पडे।

राजकुमार को उधर जाते देखकर लोगो को बडा आश्चर्य हुआ। कमठ के कुछ भक्त कहने लगे—"देखो, हम कहते थे न तपस्वी बडा पहुचा है, जो राजकुमार पार्श्व,तापसो को अज्ञानी, पाखण्डी और विवेकहीन कहकर कठोर आलोचनाएँ करता था, वही आज तपोबल से आकर्षित हुआ उसके चरणो मे जा रहा है, बस, अब तो समझो समूची वाराणसी मे कमठ तपस्वी का एक छत्र प्रभाव छा जायेगा।" इस प्रकार बातें करते हुए लोगो के झुड राजकुमार के पीछे-पीछे चल पडे। आश्रम के

बाहर बहुत बडा मेला लग रहा था, हजारो लोग राजकुमार पार्श्व के आने और तपस्वी के चरणा मे नतमस्तक होने की प्रतीक्षा मे नाच रहे थे। राजकुमार घोडे पर चढा सीधा तपस्वी के पास तक पहुँच गया। वह उनकी वास्तविकता को खोलकर देखना चाहता था। चारो ओर अग्नि जल रही है, बीच मे कमठ सूर्य के सामने मुह किये बैठा है, अग्नि मद न पडे इसलिए बीच-बीच मे बडे-बडे लक्कड उसमे झोकता जा रहा है और आँखें मूदे मुह-ही-मुह मे मन्त्रजाप कर रहा है। राजकुमार को सामने खडा देखकर कमठ को भी मन-ही-मन जोश चढा, एक बडा-सा लक्कड उठाया और अग्नि मे फेंक दिया।

उस लक्कड मे एक काला नाग छिपा बैठा था। अग्नि की लपट लगते ही वह छटपटाने लगा। पार्श्वकुमार ने उसे देखा, तो बस झट से आगे बढे और तपस्वी को पुकारा—"तपस्वी! यह क्या कर रहे हो! इन आग की लपटो मे पचेन्द्रिय प्राणियो को होमकर आत्मकल्याण और साधना करना चाहते हो? यह तो निरा अज्ञान है! दयाशून्य धर्म, धर्म नही केवल पाखण्ड है!"

राजकुमार की फटकार सुनते ही कमठ की भृकुटियाँ तन गई, लाल-लाल अगारो-सी आँखें कर वह बोला—"राजकुमार! तुम अभी बच्चे हो! एक तपस्वी के साथ कैसी बातें करनी चाहिए, तुम्हे पता नही है! तुम तो हाथी घोडो पर चढना

और क्रीडा करना जानते हो, तुम्हे क्या पता, धर्म क्या होता है ?"

पार्श्वकुमार तपस्वी के सामने आ गये और बोले—"तपस्वी, धर्म किसी की बपौती नही है, हर कोई धर्म को जान सकता है और उसकी साधना कर सकता है, किन्तु तुम तो धर्म के नाम पर मूकप्राणियो की निर्मम हिंसा करते जा रहे हो ! इसे कोई कैसे सहन कर सकता है ?"

"हिंसा ? राजकुमार ! मैं कोई हिंसा नही कर रहा हूँ" तपस्वी ने आँखें तरेर कर कहा !

राजकुमार—"तपस्वीजी ! जरा देखिये इस लक्कड में क्या जल रहा है और कैसे एक पचेन्द्रिय प्राणी छटपटा रहा है।"

"राजकुमार ! तुम्हारा कथन असत्य है, तुम मेरी साधना को भग करना चाहते हो"—कमठ ने आक्रोश के साथ विवाद बढाना चाहा।

पार्श्वकुमार ने सोचा—"इस विवाद मे कहीं बिचारा नाग जलकर भस्म हो जायेगा ! अपने सेवको को आज्ञा दी—"इस लक्कड को बाहर निकालो और उसे बुझाओ।" सेवक ने वैसा ही किया, फिर सावधानी से उसे चीरा गया तो आग की तीव्र ज्वालाओ मे झुलसता हुआ एक नाग बाहर निकल आया, उसकी चमडी जल रही थी और अन्तिम सास ले रहा था, कुमार ने उसे नवकार महामन्त्र सुनवाया और समाधि

किया—"नागराज ! मन को शान्त रखो, नवकार मन्त्र सुनते रहो, अवश्य ही तुम्हारी सद्गति होगी।"[1]

इधर नाग को देखकर कमठ को तो जैसे नाग काट गया, उसका मुह फक्क हो गया। जो लोग उसकी भक्ति करने आये थे, वे ही अब उसकी भर्त्सना करने लगे—"विवेकहीन कही का ? तपस्या करने बैठा है और दया का नाम भी मन मे नही !"

लोगो की भर्त्सना और अपमान से कमठ तिलमिला उठा। राजकुमार पार्श्व पर उसे बहुत क्रोध आया, पर कर क्या सकता था ? कुमार ने कमठ को क्षमादान दिया और कहा—"जाओ ! इस अज्ञान तप को छोडकर दया धर्म का पालन करो।"

इस अपमान और पराजय का विष घूट पीकर कमठ वाराणसी छोडकर कही दूर जगलो मे चला गया, पर खिसि-

---

१ कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थो मे नाग युगल का उल्लेख मिलता है, किंतु त्रिषष्टिशलाका और सिरिपासणाह चरिय ग्रन्थो मे सिर्फ नाग का ही उल्लेख है। यह नाग मृत्यु को प्राप्त कर धरणेन्द्र (नागकुमार) देव बनता है। प्राचीन ग्रन्थो मे नवकार मन्त्र, दूसरे के मुह से सुनवाने का उल्लेख है, शायद इस कारण कि तीर्थंकर छद्मस्थ दशा मे धर्मोपदेश नहीं करते। किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने धर्मक्रांति का द्वार तो छद्मस्थ दशा मे ही खोला—यह तथ्य सबको स्वीकाय है।

यानी त्रिलोकी कम्भा नीचे, के अनुसार वह अब कठोर अज्ञान तप और देहदण्ड की साधना करने लगा। अन्त मे रौद्र भावों के साथ मृत्यु को प्राप्त कर मेघमाली नाम का देवता (असुर कुमार) बना।

शान्ति भी और युद्ध भी —

पार्श्वकुमार युवा हो चुके थे, उनके विवाह के लिए बड़े बड़े राजघरानो की सुन्दर कन्याओ के लिए निमन्त्रण आ रहे थे। पर कुमार ने अभी भी विवाह की स्वीकृति नही दी थी। वे ससार से विरक्त रहकर साधना करना चाहते थे। परन्तु एक दिन घटना ने ऐसा मोड लिया कि कुमार को विवाह बन्धन स्वीकार करना ही पडा।

कुमार अपने पिता के साथ राज सभा मे बैठे थे राजनीति और धर्मनीति पर चर्चाएँ चल रही थी। उसी समय राजसभा मे एक दूत ने प्रवेश किया। अभिवादन के साथ उसने अपना परिचय दिया—"महाराज! मैं कन्नोज (कुशस्थल) के राजा प्रसेनजित का दूत हू, एक विशेष परिस्थिति के कारण आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"

राजा ने अभिवादन स्वीकार दूत को आगे बात कहने का सकेत किया। दूत बोला— 'राजा प्रसेनजित के एक बहुत ही रूपवती कन्या है, प्रभावती। वह राजा को प्राणो से भी अधिक प्रिय है। उसके रूप की कीर्ति सुनकर कलिंग के यवन राजा ने उसकी मांग की। एक विधर्मी को कन्या देना क्षत्रिय के लिए

मृत्यु से भी अधिक दुःख की बात है, फिर राजकुमारी प्रभावती बहुत समय से पार्श्वकुमार के प्रति स्नेह रखती है। कुमार के बाहुबल और बुद्धिबल की विमल कीर्ति जबसे उसने सुनी है तब से उसने पार्श्वकुमार को ही अपना जीवन साथी चुनने का संकल्प कर लिया है। उधर यवनराज शक्ति के बल पर हमारे महाराज को दबा रहा है, वह कहता है, या तो कन्या दो, या युद्ध करो।" अतः महाराज! आपसे अनुरोध है कि आप इस संकट की घडी मे अपने स्वजनो की रक्षा करें।"

दूत का सन्देश सुनते ही अश्वसेन की भुजाएँ फडक उठी। जोश के साथ उसने कहा—"अवश्य! हम अपने स्वजन की रक्षा करेंगे। आततायी को खदेडना, अन्याय का प्रतिकार करना हमारा धर्म है। जाओ! अपने महाराज को शुभ संवाद दो, हम अपनी सेना के साथ आपकी रक्षा के लिए बहुत ही शीघ्र आ रहे हैं।"

दूत प्रसन्न होकर लौट गया। राजा ने युद्ध की तैयारी का आदेश दिया और स्वयं भी तैयार होने लगे। पार्श्वकुमार ने कहा—"महाराज! पुत्र के योग्य होने पर पिता का भार हलका हो जाता है, अब मैं जब सर्वथा सक्षम हूँ, आप युद्ध-भूमि मे जायें यह मेरे शौर्य के लिए लज्जा की बात है। मुझे आज्ञा दीजिए! अब तक मैं शस्त्र विद्याएँ सीखता रहा हूँ अब जरा उनका चमत्कार दिखाने का अवसर भी मिले। आततायियो से राष्ट्र की रक्षा करना, न्याय का पक्ष लेना हमारा कर्त्तव्य

है, इस कर्त्तव्य पालन मे अब जरा भी ढील नही करेंगे। कृपा कर मुझे जाने दीजिये।"

पिता की आज्ञा प्राप्त कर पार्श्वकुमार युद्ध भूमि की ओर बढ गये। यद्यपि वे शान्ति प्रिय और दयालु हृदय के थे, किन्तु शान्ति और धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाना भी उन्हें मजूर था, उनका विश्वास था, अन्याय का दृढ प्रतिरोध करने से ही राष्ट्र की शान्ति स्थिर रह सकती है। इसलिए विभिन्न शस्त्रो से सज्ज होकर वे युद्ध के लिए चल पडे।

□ □ □

विशाल सेना के साथ पार्श्वकुमार के आने की खबर जब यवनराज को मिली तो पहले ही क्षण उसका साहस डगमगा गया। जब वह कुमार के सामने आया, उनकी तेजस्वी मुख मुद्रा और अद्भुत युद्धकौशल देखा तो कलेजा धक धक कर उठा। कुमार ने भी यवनराज को सावधान कर दिया—'यदि अपना जीवन चाहते हो, प्रजा की सुखशान्ति चाहते हो, तो अपना दुर्विचार छोडकर क्षमा मांग लो, मैं शान्ति चाहता हूँ, युद्ध नहीं, किन्तु यदि अपनी शक्ति के अहकार मे चूर हो तो आ जाओ, मेरे प्रहारो से वह भी नशा उतर जायेगा।"

पार्श्वकुमार के सामने यवनराज का साहस टूट गया, उसने शस्त्र डाल दिये और कुमार के चरणो मे गिर कर क्षमा माग ली। बिना रक्तपात के ही कुमार ने दोनो राजाओ मे मैत्री सम्बन्ध स्थापित करवा दिया। प्रसनजित अब पार्श्वकुमार से

प्रभावती के साथ पाणिग्रहण करने का आग्रह करने लगा। पार्श्वकुमार ने हँसकर कहा—"मैं यहाँ युद्ध करने आया हूँ, विवाह करने नही।" किन्तु प्रसेनजित अत्यधिक आग्रह करता रहा। प्रभावती का दृढ अनुराग भी पार्श्वकुमार को अपनी ओर खीचने लगा। आखिर कुमार ने कहा—"मैं पिताजी की अनुमति के विना विवाह नही कर सकता।"

प्रसेनजित अपनी पुत्री को लेकर कुमार के साथ-साथ वाराणसी आये। नगर मे विजयोल्लास मनाया गया। विजेता राजकुमार का भारी स्वागत किया गया और इस विजयोल्लास में ही प्रसेनजित के आग्रह पर पार्श्वकुमार का पाणिग्रहण प्रभावती के साथ सम्पन्न हो गया।

प्रभावती का अपूर्व रूप-लावण्य! मधुर स्नेह! उभरता यौवन! समस्त सुख सामग्री! पार्श्वकुमार का सब कुछ प्राप्त होते हुए भी मन-ही-मन वे कुछ रिक्तता अनुभव कर रहे थे और यह ऐसी रिक्तता थी जो भौतिक सुखो से भरी नही जा सकती थी। उनके मन मे आध्यात्मिक सुख की भूख जगी थी। जिस सुख का कही अत न हो, जिस आनन्द मे कही पीडा का कांटा छिपा न हो, वह सुख और आनन्द ही पार्श्वकुमार चाहते थे। और एक दिन उसी अनन्त आनन्द की खोज मे तीस वर्ष की भरी जवानी मे घर, परिवार, धन-वैभव माता-पिता और पत्नी का स्नेह-बन्धन तोड़कर वे निर्मोही वीतराग अनगार बन गये।

साधना के पथपर

भगवान पार्श्व दीक्षित होकर एकान्त वनों में ध्यान करते हुए एकाकी विचरने लगे। कहीं पर लोग उनकी वंदना करते, पूजा-अर्चा करते तो कहीं म्लेच्छ व दुष्ट प्राणी उन्हें भयंकर कष्ट भी देते। किन्तु वे तो क्षमा अवतार थे, न पूजा स्तुति में प्रसन्नता और न पीड़ा अपमान में विषाद। समता की साधना करते हुए प्रभु पार्श्वनाथ एक बार किसी जंगल में तापसों के आश्रम के पास पहुँचे। आश्रम के पास में एक पुराना कुआ था और कुएँ के पास एक वट का वृक्ष। रात्रि में भगवान उस वृक्ष के नीचे ही कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये।

कमठ तापस ने, जो मरकर मेघमाली देवता बना था भगवान पार्श्व को उस जंगल में कायोत्सर्ग किये खड़े देखा। पुराना वैर जाग उठा। क्रोध में दाँत पीसते हुए वह वहाँ आया—"अहा! यह वही राजकुमार है जिसने मेरी मिट्टी पलीत कर दी थी, आज अपना पुराना बदला लेकर हिसाब चुकता कर लेता हूँ। इसे भी पता चलेगा कि किससे भिड़े थे।" वह क्रोध में आग बबूला हुआ मेघमाली टूट पड़ा पार्श्वनाथ प्रभु पर। सिंह का रूप बनाकर भयंकर दहाड़े मारने लगा, तो कभी हाथी का रूप धारण कर चिंघाड़ने लगा और सूंड में पकड़ कर गेंद की तरह आकाश में उछाल कर भूमि पर पटक डाला। प्रभु पार्श्व पुनः खड़े होकर ध्यान में स्थिर हो गए। जहरीले बिच्छू का रूप रखकर तीखे डंक मारे, साँप बनकर जगह-जगह से काटा। तरह-तरह की यातनाएँ देता रहा, किन्तु

फिर भी प्रभु अपने ध्यान मे अविचल स्थिर खडे रहे, उसी प्रकार शान्त ! प्रसन्न !

प्रभु को शान्त देखकर मेघमाली का क्रोध और भी भडक उठा। खिसिया कर उसने भगवान पर भयकर जलवृष्टि शुरु कर दी। भयकर गर्जना और तेज हवाओ के साथ मूसलाधार पानी बरसने लगा। क्षण भर मे चारो ओर प्रलयकाल-सा मच गया। बड-बडे वृक्ष और आश्रम, पशु, पक्षी पानी मे डूब गये। पानी बढता-बढता भगवान के उदर तक आ गया और कुछ ही देर मे नाक के अग्रभाग को छूने लगा। प्रभु फिर भी अपने ध्यान मे स्थिर थे, प्रसन्न थे और मेघमाली अट्टहास के सा र नाच रहा था—"बस, आज, अभी दुश्मन को जल समाधि देकर इसका सफाया कर डालता हू।"

तभी नागकुमारो के इन्द्र धरणेन्द्र[1] ने प्रभु का यह विकट उपसर्ग देखा। स्वर्ग से दौडकर वह पहुँचा प्रभु के चरणो मे। अपने विराट सात फन फैलाकर उसने प्रभु के मस्तक पर छत्र बना दिया। पानी का प्रवाह ज्यो-ज्यो बढने लगा। कमल की भाति प्रभु का आसन अपने आप ऊँचा आने लगा। मेघमाली यह देखकर दग रह गया। धरणेन्द्र को प्रभु की सेवा मे उपस्थित देखकर उसके मसूबो पर पानी फिर गया। तभी

---

१ जिस नाग का पार्श्वकुमार ने कमठ की धूनी से उद्धार किया था वही नाग धरणेन्द्र बना। पूर्व उपकार का स्मरण कर वह प्रभु की सेवा करने के लिए आया।

साधना के पथपर

भगवान पार्श्व दीक्षित होकर एकान्त वनो मे ध्यान करते हुए एकाकी विचरने लगे। कही पर लोग उनको वदना करते, पूजा-अर्चा करते तो कहीं म्लेच्छ व दुष्ट प्राणी उन्हे भयकरतम कष्ट भी देते। किन्तु वे तो क्षमा अवतार थे, न पूजा स्तुति मे प्रसन्नता और न पीडा अपमान मे विषाद ! समता की साधना करते हुए प्रभु पार्श्वनाथ एक बार किसी जगल में तापसो के आश्रम के पास पहुँचे। आश्रम के पास मे एक पुराना कुआ था और कुएँ के पास एक वट का वृक्ष ! रात्रि मे भगवान उस वृक्ष के नीचे ही कायोत्सर्ग करके खडे हो गये।

कमठ तापस ने, जो मरकर मेघमाली देवता बना था, भगवान पार्श्व को उस जगल मे कायोत्सग किये खडे देखा। पुराना वैर जाग उठा। क्रोध मे दाँत पीसते हुए वह वहाँ आया—"अहा ! यह वही राजकुमार है जिसने मेरी मिट्टी पलीत की थी, आज अपना पुराना बदला लेकर हिसाब चुकती कर लेता हूँ। इसे भी पता चलेगा कि किसी से भिडे थे' बस क्रोध मे आग बबूला हुआ मेघमाली टूट पडा पार्श्वनाथ प्रभु पर। सिंह का रूप बनाकर भयकर दहाडे मारने लगा, तो कभी हाथी का रूप धारण कर चिंघाडने लगा और सूड मे पकडकर गेंद की तरह आकाश मे उछाल कर भूमि पर पटक डाला। प्रभु पार्श्व पुन खडे होकर ध्यान मे स्थिर हो गये। जहरीले बिच्छू का रूप लेकर तीखे डक मारे, साप बनकर जगह-जगह मे काटा तरह-तरह की यातनाएँ देता रहा किंतु

फिर भी प्रभु अपने ध्यान मे अविचल स्थिर खडे रह, उसी प्रकार शान्त ! प्रसन्न !

प्रभु को शान्त देखकर मेघमाली का क्रोध और भी भडक उठा। खिसिया कर उसने भगवान पर भयकर जलवृष्टि शुरु कर दी। भयकर गर्जना और तेज हवाओ के साथ मूसलाधार पानी बरसने लगा। क्षण भर मे चारो ओर प्रलयकाल-सा मच गया। बडे-बडे वृक्ष और आश्रम, पशु, पक्षी पानी मे डूब गये। पानी बढता-बढता भगवान के उदर तक आ गया और कुछ ही देर मे नाक के अग्रभाग को छूने लगा। प्रभु फिर भी अपने ध्यान मे स्थिर थे, प्रसन्न थे और मेघमाली अट्टहास के साथ नाच रहा था—"बस आज, अभी दुश्मन को जल समाधि देकर इसका सफाया कर डालता हू।"

तभी नागकुमारो के इन्द्र धरणेन्द्र[1] ने प्रभु का यह विकट उपसर्ग देखा। स्वर्ग से दौडकर वह पहुँचा प्रभु के चरणो मे। अपने विराट सात फन फैलाकर उसने प्रभु के मस्तक पर छत्र बना दिया। पानी का प्रवाह ज्यो-ज्यो बढने लगा। कमल की भाति प्रभु का आसन अपने आप ऊँचा आने लगा। मेघमाली यह देखकर दग रह गया। धरणेन्द्र का प्रभु की सेवा मे उपस्थित देखकर उसके मसूबो पर पानी फिर गया। तभी

---

१ जिस नाग का पार्श्वकुमार ने कमठ की धूनी से उद्धार किया था वही नाग धरणेन्द्र बना। पूर्व उपकार का स्मरण कर वह प्रभु की सेवा करने के लिए आया।

धरणेन्द्र ने दुष्ट कमठ को ललकारा—"दुष्ट ! यह क्या कर रहा है ? तीन लोक के आनन्द कन्द परम प्रभु को उपद्रव कर पर्वत से सिर फोडने का प्रयत्न कर रहा है ?" धरणेन्द्र की ललकार सुनकर मेघमाली भाग खडा हुआ। उपद्रव शान्त हो गया और धरणेन्द्र प्रभु के चरणो मे बैठकर मुक्त मन से उनकी स्तुति करने लगा।

प्रभु पार्श्व अब भी मौन थे, ध्यानमग्न थे। कमठ के प्राणघातक उपद्रव से वे चचल नही हुए, उसकी दुष्टता पर मन मे क्रोध की लहर भी नही उठी और न धरणेन्द्र की सेवा तथा स्तुति पर प्रसन्न होकर मन मे फूले। दोनो ही स्थितियों मे समभाव रहकर वे अपनी अविचल साधना करते रहे।

इस प्रकार दीक्षा लेने के तिरासी दिन तक भगवान पार्श्वनाथ कठोर और उग्र उपसर्ग सहते हुए जनपदो मे विचरते रहे। चौरासीवें दिन प्रभु वाराणसी के बाहर आँवले के वृक्ष के नीचे खडे ध्यान करते हुए परम शुक्लध्यान की श्रेणी पर आरुढ हो रहे थे। चार घनघातिकर्मों का क्षय हुआ, साधना अपनी चरम सिद्धि के द्वार पर पहुँची, भगवान पार्श्व केवलज्ञानी बने।[1]

प्रभु पार्श्व के केवलज्ञान की सूचना पाकर राजा अश्वसेन

---

१ आचार्य पद्मकीर्ति का मत है, कि जब कमठ प्रभु को घोर उपसर्ग दे रहा था, उसी समय समता की चरम स्थिति में भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। —पासणाह चरिउं १४।३०

और वामादेवी के आनन्द का कोई पार नही रहा। प्रभावती ने भी जब यह सवाद सुना तो वह आनन्द विभार हो उठी। पूरा राज परिवार और नगर के अगणित नर-नारी भगवान के दर्शन करने को उमड पडे। वामादेवी और प्रभावती ने जैसे ही प्रभु की दिव्य मुख मुद्रा देखी तो उनकी आखो मे हर्ष के आंसू छलक उठे। किन्तु प्रभु तो अब वीतराग थे, उनके लिए सब ससार ही मित्रवत था। इन्द्रिय-दमन और कषायो के उपशमन पर प्रभु ने प्रथम देशना दी। कषाय के कटु परिणामो का मार्मिक वर्णन सुनकर हजारो नर-नारियो ने समता, शान्ति और क्षमा की साधना का सकल्प लिया। राजा अश्वसेन ने प्रभु के समक्ष मुनिव्रत स्वीकार किया और वामादेवी तथा प्रभावती ने सयम ग्रहण किया

भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश अब तक चली आई परम्परा के अनुसार 'चातुर्याम धर्म को मुख्य मानकर ही हुआ।

भारत के विविध अचलो मे धर्म की ज्योति जलाते हुए, समता, आत्मशुद्धि और कषायत्याग पर विशेष बल देते हुए प्रभु ने हजारो मनुष्यो को सत्य तत्व का परिबोध दिया। जीवन के अन्तिम समय मे भगवान पार्श्व ने सम्मेतशिखर जाकर अनशन किया और समस्त कर्म बन्धनो मे मुक्त हो अविचल निर्वाण पद को प्राप्त किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ९| सर्ग ३

□□

२४

भगवान महावीर

● सारिणी

जन्मस्थान	कुंडनपुर (क्षत्रियकुण्ड) (वैशाली के निकट)
पिता	सिद्धार्थ राजा
माता	त्रिशला
जन्मतिथि	चैत्र शुक्ला १३ (ई पू ५९९)
दीक्षा तिथि	मृगसर वदि १० (ई पू ५६९)
केवलज्ञान	वैशाख वदि १० (ई पू ५५७)
प्रथम गणधर	इन्द्रभूति गौतम (११ गणधर, ९ गण)
शिष्य सम्पदा	चौदह हजार श्रमण छत्तीस हजार श्रमणी।
चिह्न	सिंह
निर्वाणतिथि	कार्तिक कृष्णा १५ (दीपमालिका) पावापुरी (वि पू ४७०, ई पू ५२७)

जीवन एक 'शिखर यात्रा' है। इसकी अछूती ऊँचाइयों को स्पर्श करने के लिए आत्मा को अथक परिश्रम और साधना करनी पड़ती है। श्रेष्ठ और पवित्र साधना के द्वारा ही आत्मा

उस उच्चतम शिखर पर पहुँच पाता है जहाँ पहुचकर आत्मा परमात्मा, जीव शिव, नर नारायण, और जन जिन दशा को प्राप्त करना है। तीर्थंकर भगवान महावीर का जीवन इस दृष्टि से बडा प्रेरक है। दुर्गुणों से पतन और सद्गुणो से उत्थान —इस दृष्टि पर टिका हुआ वह आध्यात्मिक उत्क्रांति का एक जीता जागता उदाहरण है। आइए, उनकी महान साधना के अतीत की एक झलक यहाँ देखें

अतिथि सेवा —

राजधानी के निकट एक छोटा सा सुरम्य गाँव था। पहाडो और वनो के बीच बसा, प्रकृति का जैसे क्रीडास्थल था। नयसार उस गाँव का मुखिया (ग्रामचिंतक) था। गाँव मुखिया होते हुए भी वह बडा सरल, विनम्र और हसमुख स्वभाव का था।

एक बार राजा की आज्ञा हुई—"राजमहल के निर्माण हेतु बढिया इमारती लकडी चाहिए।" नयसार अपने कर्मचारियो को लेकर जगल मे गया। देवदार साल आदि के वृक्षो को कटवाकर इमारती लकडियाँ निकलवाने लगा। काम करते-करते दुपहर हो गई, धूप बहुत तेज थी। मजदूर थक कर चूर-चूर हो गये थे। नयसार ने सब को भोजन और आराम की छुट्टी दे दी। वह स्वय भी एक सघन वृक्ष की छाया मे बैठा। भूख बहुत लग गई थी। जल्दी-जल्दी मे हाथ मुह धोया और रास्ते पर दूर तक देखने लगा। साथ के एक

नयसार ने बडी जिज्ञासा के साथ धर्म सुना, और उसे हृदय में उतारा। मुनि जन आगे चले गये, नयसार वापस अपने काम पर लौट आया। मगर अब उसके मन में, जीवन में बडा भारी परिवर्तन आ गया। उसने अतिथि सेवा करके धर्म का बोधि बीज (सम्यक्त्व) प्राप्त कर लिया।

अहंकार से पतन —

"पितामह साधु बन रहे हैं तो मैं गृहस्थ में कैसे रहूँगा मैं भी साधु बनकर पितामह का अनुसरण करूँगा"—चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि[1] ने आग्रह करके कहा।

भरत चक्रवर्ती ने समझाया—"कुमार, साधु जीवन सरल नही है लोहे के चने चबाने है, तुम उसकी कठोर मर्यादाओं का पालन नही कर पाओगे।"

"नही! नही! मैं क्या कम हूँ? आपका पुत्र हूँ। मैं साधना को नही कर सकता?" मरीचि ने हठपूर्वक भगवान ऋषभदेव का अनुसरण किया, वह भी उनके पीछे प्रव्रजित हो गया।

कुछ दिन मरीची ऋषभदेव के देखा देखी पथ पर चलता रहा। पर उसमें इतना सामर्थ्य और मनोबल कहा? "देखा-देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़ें रोग—" मरीचि इस कहावत का शिकार हो गया। निरन्तर की भूख-प्यास आदि कष्टों

---

१ नयसार की आत्मा ही यहाँ मरीचि के रूप में अवतरित हुई।

से वह घबरा गया। दादाजी के पास जाकर पुकार लगाई—"प्रभो! अब भूख नही सही जाती! आप बताइये क्या करे?" किन्तु प्रभु ऋषभदेव मौन रहे। मरीचि का धीरज टूट गया। सोचा—वापस घर जाऊँगा, तो पिता भरत को कैसे मुँह दिखाऊँगा? मेरी कायरता पर सब लोग हसेंगे। अब तो "जो हुआ सो हुआ उस वन मे नही जायेगा सुवा" गृहस्थ जीवन मे तो नही जाऊँगा।" बस, यही सोचकर वह जगल मे कन्द-मूल फल आदि खाकर रहने लगा, ब्रह्मचर्य आदि नियमो का यथाविधि पालन करते हुए वह श्रमण से 'तापस' बन गया।

भगवान ऋषभदेव ने कठोर साधना के पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त किया। मरीचि पुन ऋषभदेव के चरणो मे आ गया। भगवान का जहा भी समवसरण होता, मरीचि वहा पहुच जाता, द्वार पर खडा रहकर जनता को प्रभु का दिव्य प्रवचन सुनने के लिए प्रेरणा देता रहता, उसके हृदय मे भगवान ऋषभदेव के प्रति अगाध श्रद्धा थी।

एक बार भगवान ऋषभदेव अयोध्या नगरी मे पधारे। चक्रवर्ती भरत भगवान की देशना सुनने के लिए आये। देशना सुनकर सम्राट भगवान के चरणो मे उपस्थित हुए और पूछा—"भगवन्! आज की इस सभा मे कोई ऐसा भाग्यशाली है, जो भविष्य मे आपके समान ही दिव्य विभूतियो से सम्पन्न होकर धर्म का सदेश दे सकेगा ?"

भगवान ऋषभदेव ने कहा—"भरत! इस परिषद् मे ऐसा भाग्यशाली पुरुष है।"

"भगवन् ! वह पुण्यशाली आत्मा कौन है ?"—भरत ने पूछा।

"तुम्हारा पुत्र मरीचि ! जोकि समवसरण के बाहर सब जनता को धर्म श्रवण की प्रेरणा दे रहा है।"—भगवान ने कहा।

"हैं ! मेरा पुत्र मरीचि ?" भरत आश्चर्य एवं आनन्द में डूब गये !

"हाँ ! तुम्हारा पुत्र मरीचि ! उसका मन बड़ा निर्मल है, बड़ा सरल है। साधना करता हुआ वह अपनी आत्मा को पवित्र बना रहा है। भविष्य में वह भरत क्षेत्र का प्रथम वासुदेव (त्रिपृष्ठ) होगा। फिर महाविदेह में तुम्हारे समान ऋद्धिशाली चक्रवर्ती बनेगा, और फिर अनेक जन्मों तक साधना करते-करते इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान बनकर संसार को धर्म का दिव्य संदेश देगा।"—भगवान ऋषभदेव ने कहा।

भगवान की भविष्यवाणी सुनकर भरत का तन-मन थिरक उठा। वे शीघ्र ही समवसरण के द्वार पर आये और पुकार उठे —मरीचि ! धन्य है तू ! बड़ा भाग्यशाली है तू ! भविष्य तेरा महान है ! तू वासुदेव बनेगा, चक्रवर्ती का पद पायेगा और अन्तिम तीर्थंकर बनकर संसार में धर्मोद्योत करेगा। भगवान ऋषभदेव ने तेरा भविष्य बताया है।"

चक्रवर्ती भरत के मुँह से अपनी प्रशंसा और भावी जीवन

की गौरव गाथा सुनकर मरीचि खुशी के मारे उछलने लगा। हर्षोल्लास में मत्त होकर नाचने लगा। उसकी खुशियाँ अहंकार में बदल गईं—"अहा! मैं कितना महान हूँ! मेरा कुल-वंश कितना उच्च है? महान है? मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर! मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती! और मैं मैं प्रथम वासुदेव! चक्रवर्ती और फिर अन्तिम तीर्थंकर! क्या कहना मेरे कुल की महानता का?' मरीचि अहंकार में नाचता हुआ आने-जाने वाले लोगों की ओर देखकर कह रहा था—"देखो! देखो! मेरा कुल कितना महान है?"

मरीचि इस गौरव को पचा नहीं सका। हर्ष और अहंकार के रंग में वह विक्षिप्त सा बन गया। जिस किसी के सामने वह अपनी शेखी बघारता, कुल-गौरव के पुल बाँधता! और आत्म-प्रशंसा की डींगें हाँकता।

अहंकार पतन की पहली सीढ़ी है। इस जातीय अहंकार, कुल मद और आत्मप्रशंसा के कारण मरीचि अपनी श्रेष्ठ साधना के फल से वंचित रह गया और अगले अनेक जन्मों तक हीन जातियों में जन्म लेकर दर-दर भीख माँगता रहा।

क्रोध से तप नष्ट

मरीचि का जीव अनेक जन्मों में परिभ्रमण करता रहा। एक बार वह राजगृह में विश्वनंदी राजा के छोटे भाई का पुत्र हुआ। वहाँ इसका नाम रखा गया विश्वभूति! राजा का पुत्र था विशाखनंदी! दोनों में परस्पर बड़ी ईर्ष्या और संघर्ष

चलता रहता। यद्यपि विश्वभूति छटे भाई का पुत्र था, पर वह बडा ही तेजस्वी, पराक्रमी और साहसी था, राजा का पुत्र विशाखनदी कमजोर, भीरु और चिडचिडा था। अपने तेज के कारण विश्वभूति पूरे राजपरिवार पर छाया हुआ था। उसे पुष्प क्रीडा का बहुत शौक था। अपनी रानियो के साथ वह राजकीय उद्यान मे चला जाता और वही निरन्तर पुष्प क्रीडा म लीन रहता। फूलो के हार, गेंद आदि बना-बनाकर रानियो के साथ खेलने मे उसे बडा आनन्द आता। बडा राजकुमार जब नोकरो के मुँह से विश्वभूति की क्रीडाओ की चर्चा सुनता तो उसका खाया पीया जल उठता। उसमे इतना तो साहस नही था कि विश्वभूति को उद्यान से निकाल कर स्वय उसमे क्रीडा करने जाये। विश्वभूति के तेज के सामने देखने की भी उसमे हिम्मत नही थी। इस कारण वह जलता रहता। कभी कभी अपनी मा के सामने आकर भी गिडगिडाने लगता।

एक बार कुछ दासियो ने रानी के कान भरे। "राज्य का आनन्द तो विश्वभूति लूट रहा है। बडे कुमार तो बिचारे निर्वासित से रहते हैं, न इन्हे उद्यान मे घूमने फिरने को स्थान और न कोई पूछताछ।" दासियो की बात रानी को चुभ गई। अपने पुत्र का अपमान और दुख देखकर वह आग-बबूला हो गई। क्रोध मे आकर उसने राजा से कहा—"तुम्हारे राज्य म कितना अन्धेर है? अपना बेटा तो शरणार्थी-सा मुह ताकता रहता है और छोटे भाई के बेटे मौज उडा रहे हैं? हमारे राजकीय उद्यान (पुष्प करडक उद्यान) का, उसमे बने सुन्दर

झरनो, नहरो और सुवासित पुष्प मण्डपो का आनन्द लूट रहा है विश्वभूति ! और अपने बेटे को बगीचे के बाहर ही रोक दिया जाता है, भिखारी की तरह ? क्या इस राज्य पर उसका कोई हक नही है ? वह तुम्हारा बेटा नही है ?"

राजा ने रानी को समझाया—"अपने कुल की मर्यादा है, जब कोई राजा, राजकुमार आदि अपने अन्त पुर के साथ उद्यान मे हो तो दूसरा उसमे कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।"

रानी ने तैस मे आकर कहा—'हाय राम ! चूल्हे में जाये ऐसी मर्यादा ! मालिक मुह ताकता रहे और चोर माल खाते रहें जब तक विश्वभूति को उद्यान से निकाला नही जायेगा, मैं अन्नजल नही लूगी ।"

राजा विश्वनदी के सामन विकट समस्या खडी हो गई। आखिर उसने रानी को खुश करने के लिए एक उपाय सोचा। अचानक राजा ने युद्ध की भेरी बजाई। उद्यान म क्रीडा करता हुआ कुमार विश्वभूति अचानक युद्ध भेरी सुनकर चौंक उठा। तत्क्षण वहां से चल पडा, रानियाँ रोकने लगी, पर वह नहीं रुका। कर्तव्य की पुकार पर सीधा राजसभा मे पहुंचा, देखा कि महाराज स्वय युद्ध मे जाने की तैयारी कर रहे हैं। सेनाएँ सज रही हैं। कुमार ने पूछा—'महाराज ! अचानक युद्ध की घोषणा ? क्या बात है ?"

राजा ने कहा—"सीमा पर एक सामन्त है, जो काफी

दिनो से सिर उठा रहा है, उसी के साथ युद्ध करने मैं जा रहा हूँ।"

"महाराज ! मैं घर पर बैठा हूँ और आप युद्ध करने जायें क्या यह मेरे लिए शर्म की बात नही ! मुझे आज्ञा दीजिये।"

राजा तो यही चाहता था, उसने स्वीकृति दे दी। विश्व भूति सेना के साथ चल पडा। उधर सामन्त ने विश्वभूति को सेना लेकर आते सुना तो वह घबरा उठा। अनेक उपहार लेकर वह उसके सामने आया, हाथी घोडे, हीरे-मोती, विविध उपहार देकर विश्वभूति को प्रसन्न किया। विश्वभूति ने सामन्त को अनुकूल देखा तो उसे सीमाओ की सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंपी और बिना युद्ध के ही विजयदुदुभि बजाता हुआ पुन नगर मे लौट आया।

पीछे से विशाखनदी को मौका लगा और वह उद्यान मे घुस गया। विश्वभूति पुन लौटकर जब उद्यान मे जाने लगा तो पहरेदारो ने रोक दिया—"राजकुमार ! उद्यान मे कुमार विशाखनदी अन्त पुर के साथ क्रीडा करने गये हैं।"

विश्वभूति रुक गया, उसके हृदय पर एक गहरा झटका लगा—"ओह ! मुझे इस उद्यान से निकालने के लिए ही यह युद्ध का नाटक रचा गया लगता है ! और इस नाटक के सूत्रधार हैं, महाराज स्वय ! मैं जिनके लिए प्राण न्योछावर करने को तैयार हूँ वे ही महाराज मेरे साथ ऐसा कपट नाटक खेल सकते हैं ? छी ! छी !" विश्वभूति को महाराज के

व्यवहार पर बडी घृणा हुई, मन क्रोध मे भर उठा। दात पीसते हुए पास मे खडे एक कौठ वृक्ष को उसने पाव से ठोकर मार कर गिरा दिया। पहरेदारो पर लाल आखे कर उसने कहा—"तुम्हारे सिर भी यो ही ठोकर मारकर फोड डालता किन्तु अपनी कुलमर्यादा का विचार मुझे रोक रहा है उस दुष्ट कुमार को कह दो, भाई के साथ धोखा करने का परिणाम अच्छा नही होगा।"

विश्वभूति का क्रोध देखकर पहरेदारो को पसीना छूट गया, वे थर-थर् काँप उठे। किन्तु कुमार ने अपना उमडता हुआ क्रोध का वेग रोक लिया, घृणा, ग्लानि और विषाद से खिन्न हुआ वह अब सीधा ही एक धर्म गुरु के पास पहुँच गया और उनसे शान्ति का उपदेश सुना। मन जब शान्त हुआ, तो कुमार ने वहीं गुरु के पास दीक्षा ले ली।

विश्वभूति अब साधु बन गये, कठोर साधना और दीर्घ तपस्या करके शरीर को जर्जर कर डाला। एक बार वे मास खमण की तपस्या का पारणा लेने किसी नगर मे भ्रमण कर रहे थे। वहीं पर विशाखनदी कुमार भी आया हुआ था। उसके सेवको ने जब जर्जरकाय मुनि को देखा तो पहचान लिया, उन्होने तुरन्त विशाखनदी को खबर दी, विशाखनदी आया, देखा, एक महान योद्धा विश्वभूति आज अत्यन्त दुर्बल जीर्ण-शीर्ण हुआ धकियाता हुआ सा चल रहा है, पास ही में एक गाय खडी है जो उसे धक्का देकर गिरा देती है, यह दृश्य

देखकर विशाखनदी को मजाक सूझा, उसने व्यग्य कसते हुए कहा—"महाराज ! एक पाद-प्रहार से कैठ के वृक्ष को धराशायी करने वाला बल अब कहा चला गया ? अब तो एक गरीब गाय भी आपको धक्का देकर गिरा देती है ?"

राजकुमार के व्यग्य वचन से मुनि की क्रोधाग्नि भड़क उठी । 'दुष्ट ! यहा भी आ पहुँचा तू ! मैं साधु बन गया, फिर भी मुझसे मजाक ! उपहास ! मेरी क्षमा और तपस्या को निर्बलता समझ रहा है ? दुष्ट !" और तत्क्षण मुनि ने गाय के दोनो सीग पकडकर घास के फूले की तरह ऊपर उछालकर विशाखनदी की तरफ फेंक दिया । विशाखनदी घबराकर भाग छूटा । पूर्व अपमान और धोखे का स्मरण कर मुनि का कोप चढता ही गया । उन्होंने मन-ही-मन सकल्प किया—"मेरी तपस्या का फल हो तो मैं इस दुष्ट विशाखनदी का सर्वनाश करने वाला बनू ।" बस, क्रोधाविष्ट मुनि ने तपस्या के प्रसून को राख मे मिला दिया, घोर तप के महान फल को क्षण भर मे नष्ट कर डाला ।

क्रूरता से पतन (त्रिपृष्ठवासुदेव)

विश्वभूति मुनि का जीव एक बार पोतनपुर के राजा प्रजापति के घर पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ । यहा उसका नाम रखा गया त्रिपृष्ठ । राजा प्रजापति के एक अन्य रानी और थी, उसने भी एक वीर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अचल रखा गया । कुमार त्रिपृष्ठ अत्यन्त बलशाली और मद

भुत तेजस्वी राजकुमार था। जैसे अग्नि के निकट जाने से उसकी उष्णता अनुभव होती, सूर्य की किरणों के सामने आने से जैसे उसकी प्रचण्डता से घबराहट होती वैसे ही कुमार त्रिपृष्ठ का तेज था, उनके निकट आने का भी किसी का साहस नहीं होता।

विशाखनदी का जीव उस युग का प्रतिवासुदेव बना राजा अश्वग्रीव। पोतनपुर उसी के आधिपत्य में था। इस नगर की सीमा के पास एक जंगल में भयानक सिंह रहता था। आस-पास की भूमि बहुत अच्छी और उपजाऊ थी, वहां चावल की विशाल खेती होती इस कारण वह पूरा क्षेत्र 'शालिक्षेत्र' कहलाता था। सिंह कभी-कभी गुफाओं से निकलकर खेतों की ओर आ जाता, किसान परिवारों का विनाश कर डालता। सिंह के भय से चारों ओर आतंक छा गया। राजा अश्वग्रीव के पास पुकार गई। किसानों की और खेतों की रक्षा के लिए वह अपने अधीन राजाओं को बारी-बारी भेजने लगा।

राजा प्रजापति के पास एक बार अश्वग्रीव का संदेश आया—"शालिक्षेत्र में जाकर सिंह के आतंक से किसानों की रक्षा कीजिये!" प्रजापति तैयार हुए तो त्रिपृष्ठ कुमार को पता चला, पिताजी से उन्होंने कहा—"पिताजी! इस छोटे से काम के लिए तो हम दोनों भाई काफी हैं! आप आराम करिये, हमें जाने दीजिए!"

राजा ने सिंह की भयंकरता का वर्णन करके बताया—

"पुत्रो, मैं तो अब नदी किनारे का वृक्ष हूँ, कभी भी जाना ही है, तुम राज्य की आशाओ के दीपक हो, इस क्यारी के खिलते हुए फूल हो, तुम अभी अपनी रक्षा करो।"

पुत्रो ने बहुत आग्रह किया, अन्त मे पिता की अनुमति लेकर कुमार उधर चल पडे। पिता ने बहुत से वीर सैनिक और तीक्ष्णशस्त्र कुमारो को साथ दिये। शालिक्षेत्र मे जाकर त्रिपृष्ठ कुमार ने वहा के किसानों को बुलाकर कहा—"तुम लोग अब सदा के लिए निर्भय हो जाओगे! मुझे बताओ वह सिंह कहाँ रहता है? मैं उसका एक वार मे ही सफाया कर डालता हूँ।"

कुछ बूढे किसान हसे—"राजकुमार! आप तो ऐसी बात कर रहे हैं जैसे खरगोश का शिकार करने आये हो..! वह सिंह है! खूखार केसरीसिंह! हजारो राजा यहाँ आ चुके, किन्तु आज तक कोई उसे मार नही सका, और आप आते ही उसकी गुफा पूछते हैं कि किधर है! महाराज! वह साधारण सिंह नही है, बडा भयानक! खूखार! उससे सावधान रहिए।"

त्रिपृष्ठ कुमार की भुजाएँ फडक रही थी। बल और साहस जैसे फट कर निकल रहा था, बोले—'आखिर है तो सिंह ही! चुटकियो मे ही हम उसका शिकार कर डालेंगे अच्छा तो, देखो, हमारी सब सेना तुम्हारे पास रहेगी हम दोनों भाई उससे दो-दो हाथ होलेंगे" त्रिपृष्ठ कुमार सिंह गुफा की ओर चल पडे।

किसानो का और सेना का कलेजा धक्-धक् कर रहा था, ऐसा पराक्रमी पुरुष आज तक नही देखा। जिस सिंह की दहाड से बडे-बडे योद्धाओ का कलेजा बैठ जाता है, उस सिंह से अकेले लडने ये दो किशोर जा रहे हैं। हजारो लोग आश्चर्य के साथ उन्हे देखते रहे।

त्रिपृष्ठकुमार सिंह की गुफा के पास पहुँचे। दूर से ही सिंह को ललकारा। सिंह दहाडता हुआ अपनी मांद से बाहर निकला, उसकी आँखें लाल अगारो-सी जल रही थी, जैसे महाकाल गर्ज रहा हो सिंह ने भयकर गर्जना की। पर्वत मालाएँ उसकी दहाड से काँप उठी। त्रिपृष्ठ ने सिंह को सामने झपटता देखकर शस्त्र दूर फेंक दिये, और जैसे किसी मल्ल से कुश्ती लडता हो, सिंह के पजो को हाथो से पकड लिया। फिर एक हाथ से उसका नीचे का जबडा पकडा, तथा दूसरे से ऊपर का, और यो चीर डाला जैसे पुराना कपडा चीर रहे हो, देखते-ही-देखते सिंह के दो टुकडे अलग-अलग जा गिरे। दूर खडे दर्शक कुमार का साहस देखकर स्तब्ध रह गये, जयघोषो से गगन मण्डल गूज उठा।

अश्वग्रीव ने कुमार त्रिपृष्ठ के अद्‌भुत शौर्य की कहानी सुनी तो वह दिगमूढ-सा रह गया। ईर्ष्या की आग मे जल उठा। उसने कुमार को अपने पास बुलाया। स्वाभिमानी कुमार ने जाने से अस्वीकार कर दिया तो अश्वग्रीव सेना लेकर युद्ध करने चढ आया। कुमार के अद्‌भुत पराक्रम के समक्ष अश्वग्रीव निस्तेज और निर्वीय हो गया। अन्त मे उसने कुमार का सिर

काटने चक्र फेंका, किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र को पकड लिया, और उल्टा अश्वग्रीव पर फेंककर उसी का सिर काट डाला।

विजयोल्लास मे देवताओ ने पुष्पवृष्टि की और त्रिपृष्ठ कुमार को इस अवसर्पिणी काल का प्रथम वासुदेव घोषित किया।

एक दिन कोई सगीत मण्डली वासुदेव की सभा मे आई। मधुर सगीत का कार्यक्रम चला, श्रोता मन्त्र मुग्ध हो गये। बीन पर जैसे नाग झूमता है, उन मीठी स्वर लहरियो पर श्रोतागण झूम-झूम उठे। रात की नीरव शाति मे सगीत और भी नशीला होता गया। वासुदेव को मीठी झपकियाँ आने लगी। सुख-शय्या पर आराम करते हुए वासुदेव ने शय्यापालक से कहा—"मुझे जब नीद लग जाय तो सगीत का कार्यक्रम बन्द कर देना।"

वासुदेव गहरी नीद मे सो गये, सगीत की मस्ती मे डूबा शय्यापालक उनके आदेश को विसर गया। रात भर सभा जमी रही। प्रात जब दिशाएँ लाल होने लगी तो वासुदेव की नीद खुली। देखा कि सभा वैसी ही जमी है, सगीत चल रहा है।" वासुदेव की आँखो से आग बरस पडी—"शय्यापालक! मुझे नीद लग जाने पर सगीत बन्द नही किया? क्या ..?"

शय्यापालक के हाथ-पैर काँपने लग गये। हाथ जोडकर कहा—"महाराज! सगीत की मीठी तान मे कुछ भान भी नहीं रहा, बडा आनन्द आ रहा था, इसलिए चलने दिया।"

वासुदेव एडी से चोटी तक क्रोध मे लाल-पीले हो गये। गजते हुए कहा—"मेरी आज्ञा भग करने की हिम्मत !" फिर अपने सेवको से आदेश दिया—"इसके कान सगीत के रसिक है खौलता हुआ सीसा इसके कानो मे उडेल दो।" वासुदेव की आज्ञा का पालन हुआ। तडफते-तडफते शय्यापालक के प्राण पखेरू उड गये।

इस क्रूर कर्म के कारण त्रिपृष्ठ वासुदेव अपनी सम्यकत्व से पतित हो गये। अनेक भवो तक वे नरक एव तियञ्च योनि की यातनाएँ भोगते हुए परिभ्रमण करते रहे।

तप से पाप की शुद्धि —

बहुत समय बाद त्रिपृष्ठ वासुदेव का आत्मा 'नन्दन' राज कुमार के भव मे अवतरित हुआ। राजकुमार बचपन से ही खाने-पीने, और खेल कूद के प्रति उदास रहता था किन्तु किसी रोगी को, दीन को या भिखारी को देखता तो उसका हृदय दया से भर उठता। राजकुमार होकर वह उनकी सेवा करने लग जाता, अपने हाथ से उन्हे सहायता करके सात्वना दिया करता। साधु सन्तो का तो वह भक्त था। राजकुमार के इन सस्कारो के कारण उनका पिता राजा जितशत्रु उन पर कभी-कभी चिड जाता था, पर वह भी मन मे जानता था, इसके हृदय मे मानवता के कितने दिव्य सस्कार भरे हैं।

समय पर 'नन्दन' राज सिहासन पर बैठा, अब तो उसने दीन गरीबो और साधु-सन्तो के लिए अपना खजाना खोल

दिया। अमात्य आदि उसे रोकने का प्रयत्न करते तो वह कहता—"प्रजा का यह धन क्या मेरी सुख सुविधाओं के लिए है ? जिसका धन है, यदि उसे ही कष्ट पाना पड रहा है, तो यह धन धूल है, मेरा खजाना प्रजा के लिए है प्रजा का सुख ही मेरा सच्चा धन है।"

लोग कहते थे ऐसा न्यायी प्रजावत्सल और दयालु राजा आज तक कही देखा-सुना नहीं !

कुछ समय बाद नन्दन राजा को वैराग्य हो गया। अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर स्वयं अकिंचन अणगार बन कर साधना करने मे जुट गया।

नन्दन मुनि को तपस्या की धुन लगी तो ऐसी लगी कि दो-पाँच उपवास ही नही, किन्तु मास-मासखमण का तप करने लगे। तप के साथ क्षमा, सेवा और ध्यान की त्रिवेणी भी बहने लगी। कभी वृद्ध व रुग्ण मुनियों की सेवा में जुटते तो अपना पारणा भी भूल जाते। कभी गुरुजी कहते—"नन्दन मुनि ! जाओ ! पारणा तो करो।" तो मुनि नन्दन हाथ जोडकर बोलते—"गुरुदेव ! खाते-खाते तो उम्र बीत गई, उससे कोई कल्याण थोडा ही होगा, सेवा का अवसर तो जीवन मे कभी-कभी मिलता है, आत्मा की सच्ची खुराक तो यही है।" इस प्रकार नन्दन मुनि की सेवा परायणता, क्षमा और सरलता जो भी देखता बाग-बाग हो जाता।

इस प्रकार एक लाख वर्ष तक मुनि नन्दन निरन्तर मास-

श्रमण की तपस्या करते रहे। और उसमे सेवा, गुरु भक्ति, क्षमा, ध्यान आदि की उच्चतर साधना करते रहने से आत्मा विशुद्ध दशा मे पहुँच गई। इसी उच्चतर भाव-विशुद्धि मे तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। अन्तिम समय मे समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण कर स्वर्ग मे गये और वहा से भगवान महावीर के रूप मे जन्म धारण किया।

× × × ×

भारत का पूर्व अचल उन दिनो धर्म एव राजनीतिक उथल-पुथल से गुजर रहा था। भगवान पार्श्व की श्रमण परम्परा का प्रभाव क्षीण हो रहा था, और यज्ञ याग, धार्मिक-भेद भाव और आत्म-ज्ञान-शून्य क्रिया काण्ड का बोलवाला था। राजनीति मे भी कोई स्थिरता नही थी। लिच्छवी और शाक्य ये दो प्रमुख गणराज्य ही पूर्व भारत की राजनीति के भाग्य विधाता थे। शाक्य गणराज्य की राजधानी थी 'कपिलवस्तु', महाराज शुद्धोदन (बुद्ध के पिता) इसके प्रमुख थे। लिच्छवी गणराज्य के सचालक थे महाराज चेटक, वैशाली उनकी राजधानी थी। लिच्छवी गणराज्य के एक प्रमुख गण थे राजा सिद्धार्थ। कुडनपुर (क्षत्रियकुड ग्राम) उनकी राजधानी थी। सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला गणराजा चेटक की बहन थी। इससे स्पष्ट होता है कि राजा सिद्धार्थ एक तेजस्वी, नीतिज्ञ और प्रभावशाली शक्ति के रूप मे उन दिनो प्रगट हो चुके थे। अग, मगध कलिग, अवती, और सिधु देश तक के राजाओ के साथ उनकी रिश्तेदारियाँ जुडी थी।

सिद्धार्थ ज्ञातृवशीय क्षत्रियजाति के प्रमुख नेता थे। भगवान महावीर की आत्मा जब रानी त्रिशला के उदर में आई तो रानी ने चौदह महानस्वप्न देखे। रानी न राजा सिद्धार्थ से अपने महान स्वप्नो की चर्चा की तो प्रात काल निमित्त शास्त्र के विद्वानो को बुलाकर राजा ने उक्त स्वप्नों का फल पूछा। निमित्तज्ञों ने बताया—"इस प्रकार के महान स्वप्न देखने वाली माता को किसी तीर्थंकर या चक्रवर्ती जैसे भाग्यशाली पुत्र रत्न का लाभ होगा।"

स्वप्न पाठको की बात सुनकर राज परिवार मे आनन्द बरसने लगा। महाराज सिद्धार्थ ने इस खुशी मे निमित्तज्ञो को, तथा दीन याचको एव भिक्षुको को बहुत दान दिया।

मातृस्नेह का सूत्र —

गर्भ की सुप्त दशा मे भी महावीर की आत्मा जागृत थी। उसके अन्तर में मातृस्नेह की मधुर धारा तब से ही प्रवाहित होने लग गई थी। एकबार गर्भस्थ बालक (महावीर) ने विचार किया—"मैं माता के उदर मे इधर उधर हिलता-डुलता हूँ, इससे मेरी माँ को अवश्य कष्ट होता होगा क्या न मैं अपना सकोच करके माता को आराम पहुँचा दूँ"—यह विचार कर बालक गर्भ मे स्थिर हो गया।

गर्भस्थ शिशु का सचरण बन्द हुआ देखकर त्रिशला घबरा गई। क्षण भर मे उसका मुख मलिन हो गया, चिन्ता से काँपने लगी और शरीर को जैसे पसीना छूटने लगा। दासियां घब-

राइ हुई पूछने लगी—"महारानी ! अचानक आप को यह क्या हो रहा है ? आप इतनी भय-विह्वल क्यो हो रही है ?"

रानी ने आकुलता के साथ कहा—"हाय ! मेरा अमूल्य रत्न चुरा लिया गया लगता है ।" और वह जोर-जोर से सिर पीटने लग गई । खुशियो के गीत बन्द हो गये और घर में सर्वत्र कुहराम मच गया । त्रिशला जोर-जोर से विलाप करने लग गई ।

गर्भस्थ शिशु ने जब यह रोना-पीटना सुना तो अपने ज्ञान-बल से देखा—"अरे ! यह तो लेने का देना पड गया । मैंने माता के सुख के लिए सचरण बन्द किया था, किन्तु माता ने इसे और कुछ ही समझ लिया ।" शिशु तत्काल हिलने-डुलने लगा । रानी के जी-मे-जी आया । और पुन वातावरण मे खुशियाँ छा गई ।

माता के इस स्नेह एव वात्सल्य ने महावीर के हृदय को आन्दोलित कर दिया । वे सोचने लगे—"पुत्र के प्रति माँ के हृदय मे कितना अपार स्नेह होता है ? यदि मैं इस स्नेहसूत्र को तोडकर भविष्य मे मुनि बनूगा तो माँ के हृदय पर क्या बीतेगी ? मेरे विछोह मे कही यह मछली की तरह तडप-तडप कर प्राण तो नही दे देगी ? मा के इस स्नेह सूत्र को मैं ठेस नही पहूँचाऊँगा, इसका कोमल दिल नही तोड़ूगा, जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, मैं उनके समक्ष उनके चरणो मे ही रहूँगा ।" गर्भस्थ शिशु (महावीर) ने मातृस्नेह के सूत्र मे अपने भावी जीवन के सकल्पो को बाँध दिया ।

नामकरण —

क्षत्रिय कुंड का कोना-कोना खुशियों से थिरक रहा था। पक्षी चहक-चहक कर जैसे मंगल गीत गा रहे थे, दिशाएं नाना वस्त्र पहने जल रंग बर्षाती हुई नवजात कुमार की आरती उतार रही थी। पवन प्रसन्नता में झूम-झूम कर बह रहा था। रानी त्रिशला ने जिस महान भाग्यशाली पुत्र को जन्म दिया, उसके जन्मोत्सव की खुशी में न केवल मानव, अपितु देव देवेन्द्र, देवकुमारियां, गन्धर्व, किन्नर आदि असंख्य देवगण भी मधुर-गीत-नृत्य करते हुए खुशियां मना रहे थे। सृष्टि एक अद्भुत पुलक से ललक रही थी। सर्वत्र सहज आनन्द, आमोद प्रमोद की लहर मचल रही थी।

राजा सिद्धार्थ ने दस दिन तक बालक का जन्म महोत्सव मनाया, बन्दियों को मुक्त कर दिया, याचकों को खूब दान दिया, और भिक्षुओं को भर पेट भोजन। स्वजन परिजनों में प्रीतिदान और प्रीतिभोज के आयोजन हुए। राजा सिद्धार्थ ने परिजनों के बीच बालक के सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए कहा—"जब से यह बालक हमारे कुल में आया है, तब से धन-धान्य, कोष, बल आदि प्रत्येक वस्तु में अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है। यह बालक शातृवंश की वृद्धि का प्रतीक है, इसलिए मैं इसका नाम 'वर्धमान' रखना चाहता हूँ।" परिजनों ने मुक्त हृदय से राजा की इच्छा का समर्थन किया। बालक अब 'वर्धमान' नाम से पुकारा जाने लगा।

सांप से खेल गये

बालक वर्धमान बडे साहसी और निर्भीक थे। वे सात-आठ वर्ष के हुए होंगे कि एक दिन अन्य साथी राजकुमारो के साथ उद्यान मे खेल रहे थे। एक वृक्ष को निशाना बनाकर सब बालक दौडते, और जो सबसे तेज दौडकर पहले उस वृक्ष पर चढकर उतर आता वही विजयी माना जाता। जो बालक सबसे पीछे रह जाता वह हार जाता, विजेता उसके कन्धे पर सवार होकर वापस दौड प्रारम्भ करने के स्थान तक जाता।

वर्धमान उस दौड मे सबसे तेज थे। दौडते हुए जैसे ही वे वृक्ष के पास पहुचे तो एक काला नाग वृक्ष मे लिपटा हुआ था। वर्धमान को निकट आते देखकर वह फुकारने लगा। काले नाग की फुकार देखकर बच्चे भयभीत होकर चीख उठे। वर्धमान आगे दौडे जा रहे थे। बच्चो ने पुकारा—"वर्धमान! सावधान! आगे काला नाग है रुक जाओ! काट लेगा।" वर्धमान एक क्षण रुक गये। बच्चे घिघियाते हुए दूर खडे ही पुकारने लगे—"वर्धमान! इधर आ जाओ! नाग काट लेगा।"

वर्धमान ने नाग को भयकर फुकारे मारते देखा, और फिर साथियों की तरफ मधुरस्मित के साथ हस पडे—"अरे साथियो! डरते क्यो हो? आ जाओ! यह बिचारा खुद हमसे डर रहा है, इसे अपनी जान प्यारी है, तुम्हे नही काटेगा आ जाओ! मैं तुम्हारे साथ हूँ डरो मत।"

लेकिन बच्चों की तो घिग्घी बँध रही थी, भय से थर-थर काँप रहे थे। वर्धमान तभी धीरे से वृक्ष के पास पहुँचे, साँप ने भयंकर फुंकार मारकर जैसे ही फन मारने की चेष्टा की, वर्धमान ने उसकी पूंछ पकड़कर जोर से खींचा, रस्सी की तरह उसे घुमाया और दूर फेंक दिया।

बच्चे तालियां पीटते हुए नाचते-कूदते आये। सभी ने वर्धमान की पीठ ठोंकी, गलबाहियाँ लीं, उनके अद्भुत साहस की प्रशंसा की और एक साथ बोल पड़े—"अद्भुत वीर वर्धमान की जय!"

गुरु के गुरु —

वर्धमान की ज्ञान प्रतिभा अलौकिक थी। वे जन्म जात ज्ञानी थे,[1] किन्तु माता-पिता को उनकी ज्ञान-प्रतिभा का पता नहीं था। वर्धमान जब आठ-नौ वर्ष के हुए तो विद्या पढ़ने के लिए कलाचार्य के पास भेजे गये। आचार्य के चरणों में श्रीफल आदि भेंटकर वर्धमान ने विनय के साथ प्रणाम किया। आचार्य ने आशीर्वाद देकर बालक वर्धमान को वर्णमाला का पहला पाठ दिया। अपने मुंह मियाँमिट्ठू बनना ठीक नहीं होता, यह सोच वर्धमान चुपचाप आचार्य से पाठ लेकर आ गये। वे चुपचाप बैठे रहे। साथी बालकों ने गुरुजी से शिकायत की, वर्धमान तो

१ गर्भ दशा में ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान—इन तीन ज्ञानों से युक्त थे।

कुछ पढता ही नही है ! कुछ रटता भी नही, बोलता भी नही, बस चुपचाप बैठा रहता है।"

गुरुजी ने वर्धमान को बुलाया—डाटते हुए कहा—"क्यो, पाठ याद हुआ कि नही ?"

"हां, गुरुजी ! मुझे पाठ याद है !" विनम्रता के साथ वर्धमान ने उत्तर दिया।

"नही गुरुजी ! इसने बिलकुल पाठ याद नहीं किया, तब से यो ही बैठा है झूठ बोल रहा है।" साथ के शरारती बच्चे ने कहा।

"अच्छा तो, अपना पाठ सुनाओ जरा ।" हाथ मे छडी घुमाते हुए गुरुजी ने वर्धमान से कहा।

वर्धमान ने पाठ सुनाना शुरु किया तो बस, सुनाते ही गये, वर्णमाला ही क्या, व्याकरण के सूत्र वृत्ति और फक्किकाएँ भी सुनाते चले गये । गुरुजी के कान खडे हो गये हैं, यह क्या ? आठ वर्ष का बालक और पूरी व्याकरण कठस्थ ? जो सूत्र मैंने कभी जीवन मे नही सुने, मेरे गुरुजी ने भी नही सुने, वे कुमार वर्धमान धडाधड सुनाता जा रहा है यह तो कोई अद्भुत बालक है ! महापुरुष है कोई !" आचार्य आश्चर्य मे डूबे खडे देखते रहे। तभी एक वृद्ध ब्राह्मण सिर पर तिलक छापे लगाये वहा आया। आचार्य ने भी ब्राह्मण विद्वान को नमस्कार किया। ब्राह्मण ने कुमार वर्धमान की ओर देख-

कर पूछा—"क्यों पंडितजी ! यह बालक अभी से व्याकरण पढ रहा है ?"

"विप्रदेव ! पढ क्या रहा है, पढ चुका है समझ में नहीं आया यह सब कहाँ, कैसे पढा है इसने कुछ अद्‌भुत बात लगती है ?"

ब्राह्मण—"अच्छा ! कुमार वर्धमान ! व्याकरण के अमुक अंश सुनाइये ! अमुक शब्द किन सूत्रो मे सिद्ध हुआ, जरा बतलाइये ?"

कुमार वर्धमान निर्भय मन से ब्राह्मण के प्रश्नो का उत्तर देते गये। पंडितजी की बुद्धि चकराने लग गई। बच्चे भी आश्चर्य के साथ वर्धमान की प्रतिभा के अद्‌भुत चमत्कार देखते रहे।

तभी ब्राह्मण के स्थान पर एक दिव्य रूपधारी देवेन्द्र प्रकट हुआ। पंडितजी दिग्मूढ से देख रहे थे। देवेन्द्र ने पंडितजी का कंधा झकझोरते हुए कहा—"महाराज ! कुमार वर्धमान को आप क्या पढायेंगे, ये सब विद्याओ मे पारंगत हैं। गुरुओं के गुरु हैं।"

देवेन्द्र ने कुमार वर्धमान को नमस्कार किया, आचार्य और विद्यालय के सभी छात्र कुमार वर्धमान की जय जय कार करते हुए राजा सिद्धार्थ के पास आये। आचार्य ने बीती घटना सुनाई तो माता-पिता ने अपार स्नेह के साथ कुमार वर्धमान

को हृदय से लगा लिया—"हमे पता नही था, कुमार वर्धमान तो सब कुछ पढा हुआ है इसे क्या पढाया जाय ?"

इस प्रकार साहस और प्रतिभा के कुछ अद्‌भुत चमत्कार दिखाते हुए कुमार वर्धमान यौवन के महकते वसन्त मे पहुँचे। देह कान्ति मे कुछ स्वर्णिम निखार आ गया सितारो-सी चमकती बडी-बडी आँखे, दीर्घ व बलिष्ठ भुजाएँ, सुगठित शरीर और फूलो सा सदा विहसता मुख किसे आकर्षित नही कर लेता। माता-पिता ने कुमार के लिए अनेक राजकन्यायें देखी। वर्धमान ने अपनी भोग विमुखता की बात कहकर विवाह के लिए मना किया, किन्तु माता-पिता के स्नेह भरे अत्याग्रह को देखकर वर्धमान इतने निष्ठुर भी नही बने कि एक झटके मे वे माता-पिता के दिल को तोड डाले। आखिर परम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा के साथ वर्धमान का पाणिग्रहण हुआ।

वर्धमान का दाम्पत्य जीवन यद्यपि बहुत सुखी था, स्नेहशील सुन्दर पत्नी, सब प्रकार की भोग सामग्री, माता-पिता की छत्रछाया, किन्तु गृह जीवन का यह सुख लम्बे समय तक वे नही भोग सके। विवाह के कुछ समय बाद माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। वर्धमान के हृदय मे लहराता हुआ वैराग्य इस वियोग मे और अधिक प्रबल हो गया। गर्भदशा मे लिया गया सकल्प भी पूर्ण हो गया था, वर्धमान ने बडे भाई नन्दीवर्धन के समक्ष ससार त्याग कर दीक्षित होने की बात कही।

नदीवर्धन स्तम्भित से रह गये। बोले—"कुमार ! घाव पर घाव दुःख में और दुःख ! कैसा है मेरा भाग्य ? अभी तो माता-पिता के वियोग का दुःख और राज्य की पहाड़-सी सब जिम्मेदारियाँ सिर पर आ पड़ी हैं। मैंने कलेजा बड़ा किया, कोई बात नहीं मैं अकेला नहीं हूँ, वर्धमान मेरे साथ है, हम दो हैं दो मिल बावनवीर पर तुम तो मेरी आशाओं पर पानी फेर रहे हो मँझधार में मेरा साथ छोड़ रहे हो ?' नदीवर्धन की आखें बरस पड़ी।

वैरागी वर्धमान भी भाई का स्नेह ठुकरा नहीं सके, दिल ने दिल को पकड़ लिया। वे गम्भीर होकर बोले—'बड़े भैय्या ! तुमने मेरे पाँवों में स्नेह के बन्धन डाल दिये मैं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था, पर तुमने रोक दिया। गर आप भी मेरे पिता तुल्य हैं, बड़े भाई की बात का अनादर मैं नहीं कर सकता, आपका आग्रह स्वीकार करता हूँ, किन्तु एक बात मेरी भी आप मानेंगे न ?"

नदीवर्धन ने प्रसन्नता के साथ वर्धमान को छाती से लगाया-"हाँ ! भाई ! जरूर ! तुम्हारी बात न मानूं ? कहो ! जरूर कहो !"

वर्धमान—"मुझे अपने लक्ष्य के लिए बढ़ना तो है ही, किन्तु आपका आग्रह मानकर मुझे कम-से कम कितने दिन रुकना होगा ?"

नदीवर्धन फिर गम्भीर हो गये, कुछ क्षण सोचकर बोले—'कम-से-कम दो वर्ष !"

"अच्छा तो, आपका आदेश मुझे स्वीकार है, किन्तु इस काल मे मैं घर मे रहकर भी साधना करता रहूगा।"

"हाँ, हाँ! जैसी तुम्हारी इच्छा।" नदीवधन ने हँसकर बात टालनी चाही!

वर्धमान अब गृहस्थ जीवन मे भी साधु की तरह रहने लगे। वन और राजभवन मे उनके लिए कोई अन्तर नहीं रहा। प्राणो से भी अधिक स्नेह करने वाली यशोदा को आज से उन्होंने बहन मानली, राजकुमारोचित समस्त वेश-भूषा, अधिकार और सुख-साधन छोडकर वे एक योगी की तरह जीवन विताने लगे।

सचमुच वधमान का यह दो वर्ष का साधनाकाल एक अदभुत आत्मसंयम का काल था। जल के बीच डुबकी लगाकर बिना भीगे निकल जाना एक चमत्कार है, और वर्धमान ने यही चमत्कार दिखाया।

दो वर्ष का साधना काल पूरा हुआ। वर्धमान तीस वर्ष के हुए, बडे भाई नदीवधन से अपना सकल्प पूर्ण करने को स्वीकृति मांगी। आसुओ से भीगे हुए, गद् गद् स्वर मे नदीवर्धन ने वर्धमान को अपने लक्ष्य की ओर बढने के लिए अनुमति दी। निष्क्रमण का विशाल समारोह आयोजित किया गया। महावीर वर्धमान का निष्क्रमण देखने के लिए दूर-दूर के हजारो लाखो मनुष्य ही क्या, अगणित देव देवियो के झुड भी आने लगे। लोगो को भ्रम होने लगा, "क्षत्रियकुड ग्राम मानव लोक

का खण्ड है या कोई स्वर्ग का नगर है। देव दानव मानवों की विशाल भीड़ के साथ वर्धमान राजभवन से निकलकर नगर से बाहर उद्यान में गये। अशोक वृक्ष के नीचे खड़े होकर समस्त आभूषणों को उतारा, फिर अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया। उपस्थित जन-समूह चित्र की भाँति शान्त खड़ा राजकुमार वर्धमान का दीक्षा संस्कार देख रहा था। लोगों को लगा यह दीक्षा कैसी अद्भुत है! यही गुरु, यही चेला, यही दीक्षा देने वाले और यही दीक्षा लेने वाले! देवराज इन्द्र ने लोगों की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—"देवानुप्रिया! कुमार वर्धमान आज प्रव्रजित हो रहे हैं, ये स्वयं सम्बुद्ध हैं, स्वतः जागृत, स्वतः प्रेरित आत्मा है, ये स्वयं उपदेष्टा हैं मार्गद्रष्टा हैं, और मार्ग के निर्माता भी हैं, इन्हें किसी के उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन की अपेक्षा नहीं है। प्रभु साधना करके शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर धर्म चक्र का प्रवर्तन करेंगे। धर्म चक्रवर्ती प्रभु वर्धमान के चरणों में हमारा कोटि-कोटि वंदन!"

देवराज की इस उद्घोषणा के साथ ही लाखों हाथ जुड़ गये, असीम श्रद्धा के साथ समस्त सिर झुक गये।

प्रभु वर्धमान ने सिद्ध भगवान को नमस्कार कर दीक्षा की प्रतिज्ञा ग्रहण की। तभी प्रभु वर्धमान की जय-जयकार से दिशाएँ गूंज उठीं। लाखों हृदय प्रभु को नमस्कार कर अद्भुत शान्ति और वैराग्य की शीतलता का अनुभव कर रहे थे।

प्रभु एकाकी मौन उस उद्यान से निकलकर आगे अज्ञात वन की ओर चल पड़े। निराश-उदास मानव मेदिनी प्रभु को दूर, बहुत दूर अकेले जाते देख रही थी। देखते-देखते वे आखो से ओझल हो गये। शून्य मे भटकती आँखे खोई-खाई सी टोहती रही, प्रभु अब दिखाई नही दे रहे थे।

वस्त्रदान —

प्रभु वर्धमान अकेले, धीर गम्भीर गति से उस घोर जगल की ओर बढते जा रहे थे। अचानक पीछे से दौडता हुआ, दीन स्वर मे पुकारता हुआ एक दरिद्र ब्राह्मण गिडगिडा रहा था—"प्रभो! मेरा उद्धार करो! एक वर्ष तक आपने दान दिया, दीन गरीबो का उद्धार किया, किन्तु मैं भाग्यहीन कही दूर-दूर भटकता रहा। कल्पवृक्ष की छाया मे बैठकर भी मैं दरिद्र रह गया। प्रभु मुझे तो कुछ भी नही मिला। आज ही मैं दर-दर भीख मांगता हुआ घर पर पहुँचा तो खाली हाथ देखकर मेरे बच्चे बिलखने लगे, ब्राह्मणी ने खिसियाकर मेरे सिर पर चिमटा दे मारा, प्रभो! अब मेरी जान जा रही है। बच्चे और पत्नी-भूख से विलख रहे हैं, मेरा दम टूट रहा है, आप ही मेरा उद्धार करेगे, दीन ब्राह्मण का बेडा पार लगा दो प्रभु! कुछ दे दो, जिन्दगी का सहारा।" ब्राह्मण ने आंसुओ से प्रभु के चरणो को भिगो दिया। प्रभु के पाँव पकडकर वह फूट-फूटकर रोने लगा—"प्रभु! मुझे कुछ तो देते जाओ।"

प्रभु तो अकिंचन भिक्षु ठहरे। देने जैसा अब उनके पास

था ही क्या ? जो था सब कुछ दे दिया, त्याग दिया। ब्राह्मण बार-बार चरणों को पकड़कर रोता, फिर प्रभु की दयार्द्र दृष्टि की ओर ऊपर निहारता। उसी समय प्रभु के कंधे पर पड़े एक देवदूष्य पर ब्राह्मण की नजर टिक गई। प्रभु ने देखा—"ब्राह्मण इसी देव दूष्य पर ललचाई आँखों से देख रहा है। करुणावतार प्रभु ने उस वस्त्र में से आधा फाड़कर ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण नाच उठा—' धन्य हो प्रभु ! एक दीन दरिद्र की पुकार सुनली तुमने !' खुशियों से थिरकता हुआ ब्राह्मण देव दूष्य का खण्ड लेकर गाँव लौटा, बाजार में उस वस्त्र की बोली लगाई गई। राजा नंदीवर्धन ने एक लाख स्वर्णमुद्रा देकर उसे खरीद लिया। ब्राह्मण की जन्म-भर की दरिद्रता दूर हो गई।

अपने बल पर —

साधना पथ पर बढ़ते हुए प्रभु एक छोटे से गाँव (कूर्मार गाँव) की सीमा में पहुँचे। सन्ध्या का झुरमुटा हो रहा था। प्रभु गाँव के बाहर ही एक वृक्ष के नीचे खड़े हो गये, ध्यान लगाकर।

"ऐ बाबा ! जरा मेरे बैलों की तरफ देखते रहना, मैं गाँव में दूध निकालकर अभी आता हूँ"—अल्हड़ ग्वाले ने अपने बैलों को प्रभु महावीर के सामने खड़े करके कहा—"बाबा, जरा आँख खोलकर देखते जाना।" वह बड़-बड़ाया और बैलों को महावीर के भरोसे छोड़कर चलता बना।

प्रभु अपने ध्यान में लीन थे। अपने असंख्य शाखी-योगों और

हीरे-मोतियो को भी जिसने आँख उठाकर नही देखा, वह अब क्या किसी के बैलो की रखवाली करने बैठता ? वे तो अपने ही अन्तर मे लीन थे। बैल खुले थे, चरते-चरते दूर, बहुत दूर पहाडो की तलहटी मे निकल गये।

ग्वाला लौटकर आया। बैलो को नही देखकर बोला—"बाबा, बताओ बैल किधर चले गये ?"

महावीर मौन थे।

"हूँ! अच्छा, नही बोलते ? मैं ही चलता हूँ, ढूढने, आखिर इस बाबा को क्या पडी है मेरे प्यारे हीरा-मोती की जोडी कहो जाय, ये बाबा लोग बडे मतलबी होते है!" ग्वाला खिसिया कर बड-बडाता हुआ बैलो की खोज मे निकल गया। वह रातभर भटकता रहा, बैल नही मिले। थककर चूर-चूर हो गया, हाथ पाँव चरमराने लग गये। उसे बाबा पर भारी क्रोध आ रहा था "मेरा थोडा-सा काम भी उसने नही किया कैसा आप मतलबी है, वह अब कभी गाँव मे आयेगा रोटी मागने तो खबर लूगा उसकी।" क्रोध मे बड-बड करता ग्वाला घूमता-घामता पो-फटते-फटते वापस वही आ पहुँचा! उसने देखा—"अरे! बैल तो यही खडे हैं, बाबा के पीछे।" अच्छा समझा! यह इसी धूर्त बाबा की करतूत है यही है चोर! बदनीयत! बैलो को चुराना चाहता होगा!" बस, ग्वाला महावीर पर आग-बबूला हो उठा। उसके हाथ मे बैलो को बांधने की रस्सी थी। उसी रस्सी से महावीर पर प्रहार करने झपट पडा वह।

"कौन हो तुम ! रुक जाओ ।" आकाश से एक तेज आवाज आई। ग्वाले के हाथ ऊपर उठे के उठे रह गये। एक तीव्रभय से वह कापने लग गया। तभी एक दिव्य आकृति उसके सामने आ खडी हुई—"क्या कर रहा है ? किस पर हाथ उठा रहा है ? मूर्ख ! तुझे नही पता य कोई मठधारी बाबा नही, भगवान महावीर है ! सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र कुमार वर्धमान !"

ग्वाला भय से कांपता हुआ लड़-खडाकर गिर पड़ा—"मुझे क्षमा करदो ! मेरी भूल हो गई !" उसकी आँखो से आँसू बहने लगे।

देवराज ने उसे डाँटा और भविष्य मे सावधानी रखने की सूचना देकर छोड दिया ! प्रभु ने अपना ध्यान पूरा किया आँखें खोली तो देवराज ने विनयपूर्वक प्रार्थना की—"भंते ! लोगों मे बहुत अज्ञान है, वे जानते नही आप कौन हैं ? आपकी क्या साधना है ? क्या मर्यादा है, क्या गरिमा है ? आपको स्थान-स्थान पर अनेक उपसर्ग, निर्मम यातनाएँ और घोर पीड़ाएँ सहनी पड सकती हैं, इस साधना काल मे मुझे आज्ञा दीजिये, मैं सतत आपकी सेवा मे रहूँगा ।"

भगवान महावीर ने निर्भय वाणी में कहा—"देवेन्द्र कोई भी साधक, अपने आत्मबल पर ही केवलज्ञान और मुक्ति सिद्धि प्राप्त कर सकता है, दूसरो के बल-भरोसे पर नहीं ![1]

---

१ स्ववीर्येणैव गच्छति जिनेन्द्रा परमं पदम ।—त्रिषष्टि १०।३।३१

मेरी साधना स्वाश्रयी साधना है, इसमे किसी के सहारे, और आश्रय की कोई अपेक्षा नही है।"

प्रभु के अजेय आत्मबल के समक्ष देवराज श्रद्धा के साथ विनत हो गये।

विदेह साधना —

प्रभु महावीर कठोर, उग्रतम साधना के पथ पर चल रहे थे। शीतकाल की ठिठुराती शीत लहरें, उष्ण काल की आग की लपटो-सी तेज लूएँ और वर्षा की तूफानी ठडी हवाएँ कभी उनको चचल नही बना सकी।

दीक्षा के समय महावीर के शरीर पर सुगधित उवटन, विलेपन आदि किये गये थे। उस विलेपन की पुष्पो-सी मीठी सुगन्धि, कई मास तक उनके शरीर पर महकती रही। साधारण मानव को जहाँ यह सुगन्धि आनन्द का कारण बनती है वहाँ महावीर के लिए वह अत्यन्त त्रास और पीडा का कारण बनी।

प्रभु महावीर जब वनो मे खडे होकर ध्यान करते तो उनकी देह से मीठी सौरभ हवा के साथ फैलकर वातावरण को सुरभित बना देती। इस मधुर सौरभ से आकृष्ट हुए भौरे उनकी देह पर आकर लिपटने लगते, जैसे फूलो से लिपट रहे हो। सुरभि-रस खीच लेने के लिए वे तीखे डक मारते, मास को नोच लेते, और रक्त पीते रहते। इस अकारण उत्पन्न हुई पीडा को भगवान अत्यन्त समता के साथ सहन करते, अपने ध्यान से वे कभी विचलित नही हुए। देह की पीडा और त्रास

की कल्पना से भी वे मुक्त होकर आत्म-स्वरूप में ही लीन रहते। देह में भी 'विदेह भाव' था उनका।

किसकी झोंपड़ी किसका महल —

एक बार भगवान महावीर मोराकसन्निवेश में तापसों के एक आश्रम में ठहरे। आश्रम का कुलपति भगवान के पिता का मित्र था। उसने प्रभु महावीर को आग्रह व प्रेमपूर्वक वहाँ ठहराया। महावीर एक फूस की झोंपड़ी में ठहर गये और वहाँ खड़े होकर ध्यान साधना करने लगे।

उस चातुर्मास में भयंकर अकाल पड़ा, पानी की एक बूंद नहीं बरसी, धरती सूखी पड़ी रही। भूखे-प्यासे पशु इधर-उधर भटकते, मुंह मारते फिरते। भूखी गायें एक दिन आश्रम के झोंपड़ों की ओर बढ़ीं, उनका घास-फूस खाने लगी तो उनमें रहे हुए परिव्राजक हाथ में डंडा लेकर गायों को भगाने लगे। सभी भजन-भाव छोड़कर अपनी-अपनी कुटिया की देखभाल करने में जुट गये।

जिस कुटिया में भगवान महावीर थे, गायें उस ओर बढ़ गईं और मजे से घास-फूस खाने लगी। तापसों ने महावीर से कहा—'श्रमण! ध्यान छोड़कर पहले अपनी कुटिया की रक्षा करो।" महावीर तापसों की बात अनसुनी कर अपने ध्यान में लीन बने खड़े रहे। तापसों ने कुलपति से शिकायत की—"यह श्रमण कैसा आलसी है? अपनी झोंपड़ी की भी रक्षा नहीं कर सकता, यह आत्मा की क्या रक्षा करेगा..? रात दिन आँखें मूंदे खड़ा रहता है, कैसा बेपरवाह है।"

कुलपति महावीर के पास आया और मीठा उपालभ देता हुआ बोला—"कुमार ! पक्षी भी अपने घोसले की रक्षा करता है, तुम तो राजकुमार हो, क्षत्रिय योद्धा हो, तुम भी यदि अपने झोपडे की रक्षा न कर पाये तो यह बहुत हल्की बात होगी, ध्यान-पूजा-पाठ बाद मे, पहले अपने घर को सभाल करना चाहिए ।"

कुलपति की सीख महावीर को नही जँची । वे सोचने लगे—"किसका महल ? किसका झोपडा ? मैं तो इनकी ममता से मुक्त होकर आत्म-साधना करने निकला हूँ । यदि झोपडो की रखवाली करनी ही थी तो फिर अपना महल क्यो छोडता ? लगता है, यहाँ साधना का महत्व नही, साधनो का महत्व है, साधनो (वस्तुओ) की सम्हाल मे साधना भटक रही है, ऐसे साथियो के बीच रहने से मेरी साधना मे बाधा तो आयेगी ही, किन्तु मै उसका उपहास करने से भी नही चूकेंगे ।" चातुर्मास के पन्द्रह दिन ही बीते थे कि एक दिन महावीर उस आश्रम को छोडकर दूर कही खडहरो मे ठहरकर साधना करने के लिए चल पडे । महावीर की इस निस्पृहता से कुलपति और तापस दग रह गये ।

दानव भी हार गया —

सूने खडहरो मे ध्यान साधना करने के लिए महावीर अस्थिग्राम के एक पुराने मदिर के पास पहुँचे । वह किसी यक्ष का मन्दिर था, बडा ही भयानक और सुनसान । महावीर को साधना के लिए वह स्थान उपयुक्त लगा । अत वहाँ खडे

कुछ लोगों से महावीर ने पूछा—"मैं रात भर इस मन्दिर में ठहरना चाहता हूँ।"

महावीर की तेजस्वी और सुकुमार सौम्य मुख मुद्रा को देखकर गाँव वालों का दिल पसीज आया। वे बोले—'बाबा! सचमुच भोले बाबा लगते हो! तुम्हे पता नहीं यह मन्दिर किसका है? यहाँ मनुष्य या जन्मा रात को ठहर नहीं सकता, ठहर गया तो जीवित नहीं रह सकता, तुम यहाँ ठहरकर क्या अपनी हत्या का पाप गाँववालों के सिर पर डाल रहे हो? गाँव में और कोई स्थान की तलाश करलो बाबा!"

महावीर ने धैर्य के साथ कहा—"नहीं! यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो तो मैं यहीं ठहरना चाहता हूँ।"

लोग उपेक्षा पूर्वक देखते रहे, महावीर मन्दिर के सुनसान कोने में जाकर ध्यानस्थ हो गये। रात्रि का गहन अंधकार छा गया। वह लम्बा-चौड़ा विशाल मन्दिर बड़ा भयानक लग रहा था। तभी एक विकराल यक्ष मन्दिर में प्रगट हुआ। एकान्त में निश्चल खड़े महावीर को देखकर उसने भयंकर अट्टहास किया। मन्दिर की दीवारें काँपने लग गई, दूर-दूर तक सूनी दिशाएँ गूँज उठी। किन्तु महावीर तो आँखें मूदे पत्थर की प्रतिमा बनकर खड़े रहे।

यक्ष ने पुनः एक भयंकर हुंकार किया—हूँ! हूँ! की प्रतिध्वनि में सारा मन्दिर काँप उठा, किन्तु महावीर फिर भी अविचल थे। राक्षस को क्रोध आया—"अच्छा! अभी भी

नही डरा ! उसने विकराल हाथी का सिंह का दैत्य का, विषधर का रूप बनाकर महावीर को तीव्र पीडाएँ दी, और भय दिखाया। जहरीले कीडे, डास बनाकर स्थान-स्थान पर काट डाला, रक्त बहने लगा, शरीर मे तीव्र वेदना की जहरीली लहरें दौडने लगी, किन्तु महावीर फिर भी शान्त खडे रहे। रात का अन्तिम पहर होने को आया, कष्ट देता देता यक्ष थककर चूरमरा गया, किन्तु महावीर ने मुह से उफ् भी नही किया। वे शात और प्रसन्न थे।

यक्ष थककर बैठ गया, सिर पर हाथ धर कर सोचने लगा—"यह मानव होकर भी मुझसे भयभीत नही हुआ, और मैं दानव होकर भी इससे हार गया ? यह है कौन ? ऐसा अजेय योद्धा, साहसी और अक्षय मनोबली मानव आज तक मैंने नही देखा। अवश्य ही यह कोई महामानव है देवाधिदेव है।" यक्ष अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करने लगा, उसे ज्ञात हुआ—ये महाबली श्रमण महावीर हैं। और वह प्रभु के चरणो मे आकर विनय-भक्ति और स्तुति करता हुआ क्षमा प्रार्थना करने लगा। प्रभु महावीर अब भी मौन थे। क्रूरता और हिंसा का त्यागकर यक्ष चला गया, प्रभु निर्विघ्न अपनी साधना करते रहे।

प्रातःकाल गाँव वालो ने सोचा—"चलो, देखें, बाबा का क्या हाल है ? जीता है या मर गया ?" जैसे ही वे मन्दिर मे पहुचे तो देखा, वह साधु तो उसी कोने मे खडा प्रसन्न है, ध्यान मे लीन है।" गाववालो को बडा आश्चर्य हुआ !

तभी वहा उत्पल नामक ज्योतिषी, जो उसी गाव मे रहता था आया। उसने लोगो को काना-फूसी करते देखकर कहा—"मूर्खो ! यह कोई साधारण साधु बाबा नही है, यह अतुलबली धर्म चक्रवर्ती भगवान महावीर है। इनके चरण-स्पर्श से गाँव का उपद्रव शान्त हो गया है, क्रूर यक्ष जो हमे सदा कष्ट देता रहता था, भगवान का भक्त बन गया है और अब इस गाव का उद्धार हो गया समझो।"

गाव के लोग बडी भक्ति के साथ प्रभु महावीर की वदना करने लगे। प्रभु उस स्तुति मे भी उसी प्रकार समभाव से ध्यान मग्न खडे रहे।

विषधर का उद्धार —

प्रभु महावीर विहार करते हुए एक बार कनखल आश्रम मे पहुँचे। नदी प्रवाह की भाति वे निरन्तर चलते ही रहते थे। आश्रम मे निकलकर एक भयानक जगल की ओर जा रहे थे। कुछ ग्वालों ने एकाकी साधु को उधर जाते देखा तो उनका सरल हृदय तडप उठा। दूर से ही पुकारने लगे—"ओ साधु बाबा ! आगे मत जाओ ! उधर एक भयकर साप रहता है।"

ग्वालो की पुकार पर भी महावीर के कदम नहीं रुके। ग्वाले भय से काँपने लगे—"अरे, बिचारे बाबा की मौत आ गई। चलो, बचाओ उनको।" दौडे दौडे दो साहसी ग्वाले महावीर के पास आये। अद्भुत सौम्य, तेजस्वी मुख और चमकती आँख देखकर मन मे बड़ा ही श्रद्धा भाव जगा। बोले—

"देवार्य ! तुम्हें नही मालूम इधर क्या है ? एक भयकर दृष्टिविष नाग रहता है, बडा जहरीला है, देखो, उसकी जहरीली फूकारो से ये हरे-भरे वृक्ष जलकर ठठ हो गये। उसकी विषभरी दृष्टि पडते ही आकाश में उडते पक्षी छट पटाकर भूमि पर गिर पडते हैं। उसी की विषैली फूकारो से यह वन दूर दूर तक वीरान हो गया है, बाबा इधर मत जाओ ! लौट चलो, हम तुम्हे दूसरा रास्ता बताते है, उधर से जाओ !" नाग का वर्णन करते-करते ग्वालो के हाथ-पैर कांपने लग गये, भय से आंखे नीली पडने लग गई !

महावीर ने सरल सहृदय ग्वालों की भावना का आदर करते हुए अभय सूचक हाथ उठाकर उन्हे आश्वस्त किया। वे मुख से कुछ नही बोले, किन्तु उनकी आखो मे करुणा छलक रही थी। कुछ क्षण रुककर फिर आगे चलने लगे। वे अभय के देवता थे, उन्हे भय था ही क्या ? पर ग्वाल-बालो के हाथ-पैर फूल गये। तपस्वी की हठवादिता पर उन्हे खीझ भी आई—'चलो, नही सुनता है, तो वो जाने ! नाग बाबा को देखकर अपने-आप भाग आयेगा !"

महावीर के कदम आगे बढते गये, जैसे विष से लोहा लेने अमृत बढा जा रहा था। वे सीधे नाग की बाबी के पास पहुँच गये। शान्ति के साथ आखें मूद ली, हाथ-पैर निश्चल करके स्थिर हो गये।

फूकार मे विष की लहरें निकालता हुआ नाग बिल मे से

निकला। वर्षों में पहली बार आज उसने एक मानव का पसीना वाली के पास एटा देखा, बड़ा निर्भय! बड़ा शान्त! चण्ड नाग ने एक जहरीली फुवार मारी, पर तपस्वी महावीर पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। नाग चकित देखता रहा, उसकी एक फुकार से तो बड़े-बड़े योद्धा धराशयी हो जाते हैं, हरे भरे लहलहाते वृक्ष जल जाते हैं, और यह अत्यन्त सुकुमार दीखने वाला युवक तपस्वी अभी भी मुस्कराता खड़ा है। नाग ने फन पटक कर सूर्य के सामने देखा और फिर तीव्र विष ज्वाला उगलता हुआ फुंकारने लगा। उसकी विषाक्त फुकारों से वायु मण्डल विषैला हो गया, आस-पास की झाड़िया भी जलने लग गई, पर यह श्रमण तपस्वी अभी भी स्थिर खड़ा था।

विषधर का विश्वास डोल उठा। क्या उसका जहर खत्म हो गया उसके विष-दांत किसी ने उखाड़ डाले ? आज यह निर्वीर्य हो रहा था, उसकी जहरीली फूत्कारें उसी का मजाक कर रही थीं। क्रोध से आग बबूला हुआ नाग फन पटकता हुआ महावीर पर झपट पड़ा। एक तीव्रदंश से उसने महावीर की पिंडलियों का मांस नोच लिया, रक्त की धार बह चली। नाग फाट कर झट से दूर हट गया, धराशायी होते हुए यह कहीं मुझ पर ही न गिर जाय पर उसे उसका स्वप्न टूट गया, तपोधन महावीर तो वैसे ही स्थिर, अचल, खड़े हैं, पहले जैसा ही उनका चेहरा मन्द हास्य के साथ खिल रहा है, वही सौम्यता, शान्ति टपक रही है, जैसे उन्हें कुछ पता ही न चला हो क्या हो रहा है ?

चड विषधर घबरा गया, उसका प्रचण्ड जहर आज पानी हो गया, एक मानव से वह हार गया। और यह क्या ? इस मानव का रक्त इतना मीठा ? दूध से भी अधिक स्वादिष्ट ?" हार खाया हुआ नाग अब कुछ सोचने लगा।

तभी अमृतयोगी महावीर ने पुकारा—"चड ! सोचो ! समझो ! अपने क्रोध को शान्त करो ! इसी क्रोध मे पागल हुए तुम जन्म-जन्म मे ठोकर खा रहा हो ! अब अपने आपको समझो !"

महावीर की अमृत-सी मधुर वाणी ने चड नाग के जहर को शात कर दिया, उसकी अन्तश्चेतना जाग उठी। वह सोचने लगा, देखने लगा अपने-आपको ! अपने दुष्कर्मो पर पश्चात्ताप करने लगा—"हा ! क्रोध, अहकार की लपेट मे मैंने अपने अनेक जन्म मिट्टी मे मिला दिये !" पश्चात्ताप की धारा मे उसके पाप घुल गये। विषधर शात हो गया। फन नीचे गिरा-कर उसने प्रभु के चरणो मे रख दिया—"क्षमावीर, क्षमा दान दो ! अमृत योगी, तुमने मेरे समस्त विष शात कर दिये ! आज से मैं तुम्हारे ही पथ का अनुयायी बना, शाति का आच-रण करूँगा।"

विषधर का अन्तर्विष शात हुआ देखकर अमृत-पुरुष महा-वीर प्रसन्नता के साथ आगे चल पडे। जगल मे फिर से चहल-पहल शुरु हो गई, हरियाली खिल उठी। विषधर को लोग नाग देवता के रूप मे पूजने लग गये।

घोर यातनायें

भगवान महावीर को स्थान-स्थान पर अनेक कष्ट व यातनाएँ सहनी पड़ीं। बहुत से लोग उन्हें अजनबी, चोर व शत्रु का गुप्तचर आदि समझकर पीड़ाएँ देते, कारागार में बन्द कर देते। अनार्यभूमि के लोग उन्हें देखकर चकित रह जाते, गालियाँ देते, मजाक करते, उन्हें ढेले मारते, स्त्रियाँ घर की जूठन व कूड़ा-कचरा लाकर उन पर फेंक जातीं, वहाँ के शिकारी कुत्ते उन्हें काटने दौड़ते, फिर भी गाँव के लोग कुत्तों को छुड़ाते नहीं, उलटे तालियाँ पीट-पीटकर हँसते। खाने-पीने की तो बात ही क्या रहने का स्थान भी नहीं मिलता, महावीर वृक्षों के नीचे ही खड़े रहकर ध्यान करते रहते।

मनुष्य ही नहीं, अनेक दुष्ट देवता भी महावीर को कष्ट देने में पीछे नहीं रहे। संगम नामक देवता, छह महीने तक महावीर का पीछा करता रहा। जैसे मक्खी बार-बार उड़ाने पर भी घाव पर ही आकर बैठती है, वैसे ही संगम ने बार-बार पराजित होकर भी महावीर का पल्ला नहीं छोड़ा। तरह-तरह की पीड़ाएँ, उपसर्ग, वेदना देता रहता, महावीर जहाँ जाते वहाँ के गाँवों को बहकाकर महावीर को पिटवा देता, उन पर पत्थर फिंकवाता, और जाने क्या क्या नहीं करता एक जानी दुश्मन की तरह। संगम ने एक बार चोरों द्वारा भगवान को फाँसी के फंदे पर भी लटकवा दिया था। घटना यों घटी कि भगवान एक बार तोसलि गाँव में गये। प्रभु महावीर गाँव के बाहर ध्यानस्थ खड़े थे। संगम उनका शिष्य बन-

कर गाव मे गया और चोरियाँ करने लगा । लोगो ने पकडकर पीटा तो बोला—"मुझे मत पीटो ! मैंने अपने धम गुरु के सिखाने मे ही ऐसा किया है ।" सगम को पकडकर लोग महावीर के पास आये । दुष्ट सगम ने वहाँ पहले से ही बहुत-सा चोरी का माल व शस्त्रास्त्र जमा कर रखे थे । लोगो ने देखा तो आग बबूला हो गये । प्रभु का चोर समझकर गले मे फदा डालकर फासी पर लटकाया, किन्तु टूट गया, एक बार ही नही, सात बार फाँसी का फदा गले मे डाला गया, किन्तु वह अपने आप टूटकर गिर पडा । आखिर लोगो ने प्रभु को कोई महापुरुष समझकर छोड दिया ।[1]

कटपूतना राक्षमी ने एक बार प्रभु महावीर को अत्यन्त उग्र पीडा पहुँचाई । माघ के महीने की कडकडाती सर्दी मे महावीर किसी गाव के बाहर वृक्ष के नीचे खडे होकर ध्यान कर रहे थे । रात के समय राक्षसी ने महावीर के ध्यान को भग करना चाहा, उसने मूसलाधार ठडा पानी बरसाया, महावीर को भिगो दिया, फिर भयकर हवा चलाई, महावीर के कधो पर खडी होकर अट्टहास करती रही, और हड्डियो को कपा देने वाली भयकर सर्दी से महावीर को विक्षुब्ध करने का प्रयत्न करती रही । महावीर निश्चल खडे रहे ।

एक बार भ महावीर किसी नौका मे बैठकर गगा नदी पार

---

१ आवश्यक चूर्णी पृ० ३१३

कर रहे थे। सुदंष्ट्र नामक एक देव ने महावीर को नदी में डुबो देने के लिए भयंकर तूफान चलाया, नाव डगमगाने लगी, देव ने पिशाच रूप बनाकर महावीर को डराना चाहा, किन्तु महावीर स्थिर, शांत एवं ध्यानमग्न रहे। देव अपने दुष्ट प्रयत्नों में हार गया, महावीर की साधुता जीत गई।

इस प्रकार भगवान महावीर का साधना काल अत्यन्त दारुण यातनाओं के बीच बीता। पूजा कम मिली, पीड़ा ज्यादा, भक्त कम मिले, दुष्ट ज्यादा। किंतु महावीर कभी अपनी समता से विचलित नहीं हुए, कठोर से कठोर यातना भी उनकी साधना को भंग नहीं कर सकी। उनका मनोबल अडोल था, धैर्य अद्भुत था।

गोशालक की यातनायें —

> एक कहावत है—कपूत बेटा, पेट का फोड़ा,
> खोटा शिष्य गुरु की पीड़ा।

सचमुच कुपुत्र की भांति, कुशिष्य गुरु को सुख की जगह दुःख ही पहुँचाता है। गोशालक भी भगवान महावीर का शिष्य बनकर कई वर्ष तक उनके पीछे-पीछे घूमता रहा था, पर आदि से अन्त तक महावीर के लिए पीड़ा और दुष्टता का कारण ही रहा। महावीर दयालु थे, सरल थे, गोशालक बड़ा कुटिल और दुष्ट! वह स्वयं चोरी करके, लोगों से छेड़खानी करके महावीर की ओर इशारा कर देता—'मैं क्या करूँ? मेरे गुरु जी ने यही आदेश दिया, मुझे तो गुरु का आदेश मानना पड़ता

नही तो कहाँ जाता।" इस प्रकार अपना पाप भी महावीर के सिर पर थोप देता, लोग चेले को छोड देते और गुरु को पीटने लग जाते। इस प्रकार गोशालक लगभग नौ वर्ष तक भगवान महावीर का पल्ला पकडे घूमता रहा।

एक बार भगवान महावीर विहार कर रहे थे। गोशालक भी उनके पीछे पीछे चल रहा था। उसने देखा–एक तपस्वी सूर्य के सामने दोनो हाथ ऊपर उठाये स्थिर खडा है। उसकी लम्बी-लम्बी जटाएँ भूमि को छू रही हैं। जटा मे जुएँ (यूका) कुलबुला रही हैं, धूप मे घबराकर वे भूमि पर गिर रही हैं। तपस्वी उन्हे उठाकर पुन अपने सिर मे डाल लेता है। गोशालक को यह नाटक बडा अजीब-सा लगा, मुहफट तो था ही वह, दूर से ही बोल पडा—"अरे! तू कोई तपस्वी है या जूओ का शय्यातर (घर)! यह क्या नाटक रच रहा है?"

तपस्वी ने गोशालक का तीखा व्यग्य सुना, फिर भी वह शात रहा। उसकी शाति से गोशालक और चुलबुला उठा। उसके पास आया और पुन छेडछाड करने लगा। शात सरोवर मे ककर फेंकने से वह भी क्षुब्ध हो उठता है, वह तो तपस्वी साधक था। उसका क्रोध भडक उठा, अगारा सी जलती आखो से उसने गोशालक की ओर देखा—"दुष्ट! ठहर जा! अभी बताता हूँ मैं क्या हु?" वह सात-आठ कदम पीछे हटा और तपोबलजन्य अग्नि की भयानक ज्वाला (तेजोलेश्या) गोशालक के ऊपर फेकने लगा। आग की लपटें अपनी ओर

आती देखकर गोशालक सिर पर पाँव रखकर दौड़ा—"प्रभो! बचाओ! यह मार रहा है मुझे!" वह चीखता-चिल्लाता भगवान के चरणों में जा छिपा, उसे पसीना छूट रहा था, हाथ पाँव काँप रहे थे और मिमियाता हुआ प्रभु के चरणों में लोटने लगा—"गुरुदेव! ये लपटें आ रही हैं, अभी मुझे जला डालेगी। बचाओ! आपका शिष्य हूँ।"

ध्यानस्थ महावीर का करुणार्द्र हृदय पसीज उठा। धीरे से उन्होंने अपने तपोबल का प्रयोग किया, शीतल लेश्या से आग को पानी बना दिया। गोशालक नाच उठा—"देखा, मेरे गुरु जी का चमत्कार! मुझे जलाने की हिम्मत है किसी में ?"

अपने तेजोबल को हतप्रभ हुआ देखकर तपस्वी चकित भ्रमित-सा देखने लगा। भगवान महावीर द्वारा गोशालक को शरणदान दिया देखकर वह वहीं विनत हो गया—"प्रभो! क्षमा करना, मुझे नहीं मालूम था यह आपका शिष्य है ?"

गोशालक ने अनुनय-विनय करके भगवान महावीर से उस तेजोलेश्या की प्राप्ति का उपाय पूछा। भगवान ने साधना विधि बता दी। बस, बन्दर के हाथ बन्दूक आ गई। गोशालक महावीर का पीछा छोड़कर तेजोलेश्या की साधना में लग गया।

भावना भवनाशिनी —

भगवान महावीर को साधना करते हुए लगभग दस वर्ष पूरे हो रहे थे। एक बार वे वैशाली के बाहर किसी उपवन में

ठहरे। ध्यान योग्य शात स्थान देखकर वही चातुर्मास कर दिया। चातुर्मास मे महावीर को स्थान के सिवाय और क्या चाहिए था? न वस्त्र! न भोजन और न जल! चार महीने तक निराहार स्थिर वृक्ष की भाँति खडे रहने का अटल सकल्प था बस एक!

भगवान को निराहार ध्यानस्थ खडा देखकर वैशाली का एक जीर्ण नामक सेठ वहा प्रतिदिन दर्शन करने आता। कुछ समय वहा बैठकर प्रभु के सान्निध्य का अमृत लाभ लेता और फिर जाते-जाते पारणे का लाभ देने की प्रार्थना करता जाता। पपीहा जैसे वर्षा की चाहना करता है, जीर्ण निरन्तर प्रभु के पारण की प्रतीक्षा करता रहा। चार मास बीत गये। न भगवान ने आँखे खोली, और न जीर्ण ने एक दिन भी बिना प्रार्थना के खोया।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन जीर्ण अपने घर पर ही प्रतीक्षा करता रहा। आज भगवान अवश्य ही पारणा लेने नगर मे आयेंगे, और उसकी चिरसचित भावना सफल होगी जीर्ण सोच रहा था—"कल्पवृक्ष को अमृत से सींचना सुलभ हो सकता है, किन्तु तपोधन प्रभु महावीर को हाथ से दान देना महान दुर्लभ है, अक्षय पुण्योदय से ही यह सौभाग्य मिल पाता है। सुखद कल्पनाओ मे थिरकता हर्ष गद्गद् हुआ जीर्ण प्रभु के आगमन की, दर्शन की और दान देने की प्रतीक्षा मे एकटक नगर द्वार की ओर देख रहा था। प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा मे प्यासी आँखे पथरा गई थी, पर अभी तक प्रभु की छवि

दिखाई नहीं दी, जीर्ण की भावनाओं में श्रद्धा का ज्वार उमड़ रहा था, प्रतीक्षा की घड़ियों में उसका हृदय अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था। भावों की उच्चतम श्रेणी पर चढ़ा जा रहा था वह।

सहसा आकाश में देव दुंदुभि बज उठी। 'अहो दान महादान' की उद्घोषणाएँ होने लगी। "प्रभु महावीर के चातुर्मासिक तप का पारणा हो गया है"—यह सुनते ही जीर्ण की भावनाओं पर तुषारापात हो गया, ऊँचे आसमान से वह नीचे आ गिरा। निराश-उदास हुआ वह दौड़ा आया, देखा नगर में एक पूरण श्रेष्ठी के घर पर प्रभु को भिक्षा लाभ हुआ है। जीर्ण अपने भाग्य को कोसने लगा, उसकी आँख और हृदय रो पड़ा—"मैं कैसा हतभागी हूँ, चार मास तक निरन्तर प्रतीक्षा करने पर भी प्रभु मेरी श्रद्धा पर प्रसन्न नहीं हुए।" भाग्य के इस सदमे से जीर्ण सेठ बहुत दुःखी हुआ।

भगवान महावीर आगे चले गये। कुछ दिन बाद वैशाली में भगवान पार्श्वनाथ के एक ज्ञानी शिष्य आये। लोगों ने उनसे जीर्ण और पूरण सेठ के भाग्य की लीला की चर्चा की। ज्ञानी संत के मुँह से निकल पड़ा—"कटाटोपो भयंकर"—आडम्बर भयंकर होता है।"

लोगों ने इसका रहस्य पूछा। संत ने कहा—"जीर्ण ने भावना के हाथ से दान न देकर भी दान का महान पुण्य अर्जित किया है, उसकी भावनाएँ इतनी ऊँची थीं कि यदि कु

दो घडी भर और उन्ही भावनाओ मे स्थिर रह जाता, (देव दुदुभि से उसकी विचार धारा भग न होती) ता घर पर बैठा ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता।

इसके विपरीत पूरण ने भगवान को वडे ही तिरस्कार के साथ दिये वासी ठडे वाकले, और वह भी अपने हाथ से नही, दासी के हाथ से दिलवाया यह कहकर कि द्वार पर आये इस भिखारी को कुछ दे-लेकर विदा करो।" किन्तु जव भगवान के पारणे का दिव्य अतिशय उसने देखा, रत्नो की वृष्टि देखी तो वह चकित-सा देखता ही रह गया। लोगो ने जव पूछा—"भाग्यवान! प्रभु को आज तुमने क्या भिक्षा लाभ दिया?" ता पूरण ने शेखीवघारते हुए कहा—"भिक्षा दान? मैंने अपने हाथो से प्रभु को परमान्न (खीर) का दान किया है।" इस झूठे अहकार से, शेखी से पूरण को कुछ भी आध्यात्मिक लाभ नही मिल सका, पर तुम लोग अज्ञान के कारण उसे ही दानी मान रहे हो।"

सत की वाणी से लोगो को सच्चे दान का ज्ञान हुआ, सभी कहने लगे—"दान मे वस्तु नही, भाव ही मुख्य है—भावना भव नाशिनी।"

सत चरणो का चमत्कार —

भय और आपत्ति के समय साधारण मानव देवताओ के द्वार खट-खटाता है, मन्दिर मे मूर्तियो के सामने गिडगिडाता है, और मन्त्र, यन्त्र के द्वारा देवी-देवताओ की उपासनाक रता

है, किन्तु आश्चर्य ! वे ही देवी-देवता, स्वयं इन्द्र भी, कष्ट के समय, आपत्ति की वेला में संतों की चरण-शरण में आकर आश्रय लेते हैं।

भगवान महावीर एक बार साधना करते हुए[1] सुंसुमारपुर के वन खण्ड में आये। अशोक वृक्ष के नीचे स्थिर मन होकर ध्यान करने लगे। तभी असुरों का इन्द्र 'चमरेन्द्र' प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ। सुरों के इन्द्र शक्रेन्द्र के भोग-वैभव से उसे ईर्ष्या हो रही थी, उसके अपार ऐश्वर्य, और स्वच्छन्द भोग एवं विपुल समृद्धि को देखकर असुरेन्द्र तिलमिला रहा था। अचानक सुरेन्द्र पर आक्रमण कर उसके वैभव व ऐश्वर्य का ध्वंस करने के विचार से वह चुपचाप स्वर्ग पर धावा बोलना चाहता था, किन्तु यदि सुरेन्द्र ने प्रत्याक्रमण कर दिया तो फिर उसे जान बचाने फिर छिपाने के लिए भी कहीं आश्रय ढूँढ़ रखना चाहिए, इसी भावना से वह ध्यानस्थ प्रभु महावीर के चरणों में आया। भगवान को वंदना करके कहा—"प्रभु ! मुझे आपकी शरण है ! आप ही मेरे रक्षक हैं मेरी रक्षा करना प्रभो . !" और फिर विकराल रूप धारण कर वह अचानक सुरेन्द्र की सभा में पहुँचा। भयंकर हुंकारों से, वह देवताओं को डराने लगा, सुखों में लीन देवताओं में खलबली मच गई, स्वर्ग के विमान उसकी हुंकारों से कांप उठे। तभी अपना धैर्य एवं बल को संभालते हुए सुरेन्द्र ने देवराज को

---

१ साधना काल का १२वाँ वर्ष

ललकारा। उनकी दहाड के सामने असुरेन्द्र के पाँव उखड गये, वह भागने लगा, सुरेन्द्र ने उसे नष्ट करने के लिए वज्र फेंका। आगे-आगे दैत्यराज दौड रहा था, अग्नि ज्वालाएँ फेंकता हुआ वज्र उसका पीछा कर रहा था, दैत्यराज घबराया, अब वज्र की मार से बचने का कोई उपाय नही ! आज इसकी लपटे लील जायेगी, भस्म कर डालेगी। हाफता-दौडता तीव्र गति से दैत्यराज प्रभु महावीर के चरणो मे पहुँचा—"प्रभो ! मुझे शरण दो, मेरी रक्षा करो प्रभो ! मौत आ रही है पीछे ! अब आपका ही शरण है प्रभो ! प्रभो !" दैत्यराज मेमने की भाति मिमियाता हुआ आकर प्रभु के चरणो मे छुप गया।

देवराज पीछे दौडे आ रहे थे। असुरेन्द्र को जब भगवान महावीर के चरणो मे छपा देखा तो वे सहम गये। कही वज्र से प्रभु के चरणो को आघात न लगजाये, यह सोच शीघ्र ही उन्होने अपने वज्र को रोक लिया। उफनता हुआ क्रोध रुक गया, देवराज दात मिस-मिसाकर रह गये। असुरराज को ललकारते हुए कहा—"आज तुम्हारी मृत्यु आ गई थी, किंतु भगवान के चरणो ने तुझे बचा लिया, मैं अब कुछ नही कर सकता, अभय के देवता प्रभु के चरणो मे आया हुआ प्रत्येक प्राणी अभय हो जाता है, परम वात्सल्य और करुणा व मैत्री के अवतार प्रभु का सान्निध्य शत्रुओ को भी मित्र बना देता है, अब मैं तुम से कोई बदला नही ले सकता ! असुरराज ! तुम अभय

हो ! मुक्त हो ! निकल जाओ ! और चले जाओ अपनी राजधानी में !

मृत्यु के मुह से बचा हुआ असुरराज प्रसन्नता में झूम उठा भगवान के चरणों में बार-बार वंदना करके वह निर्भय होकर चला गया।

यह है प्रभु की चरण शरण का अद्भुत चमत्कार ! जो मानव को ही क्या, देव और देवेन्द्रों को भी आश्रय एवं शरण दान देता है।

चंदना का उद्धार —

प्रभु महावीर ने अपने साधना काल में हर प्रकार से स्वयं को तपाया, परखा और साधा। ध्यान, तप, सहिष्णुता, क्षमा आदि प्रत्येक विधि में वे नये-नये प्रयोग और अभिग्रह करते रहे। एक बार प्रभु ने १३ बोल का एक विचित्र अभिग्रह किया। इस अभिग्रह में अनेक विचित्र बोल थे, जिनका पूर्ण होना प्राय असभव जैसा लगता था। पाँच मास और पच्चीस दिन गुजर गये, प्रभु ने न अन्न ग्रहण किया और न जल। आखिर एक दिन चन्दनबाला के हाथों से यह अभिग्रह पूर्ण हुआ। राजकुमारी चन्दना जो एक दिन बिकी थी, सरे बाजार में बिकी, वेश्या के द्वारा खरीदी गई, फिर सेठ के घर आकर आश्रय लिया। सेठानी ने उसकी दुर्दशा की, हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी मुंडित सिर ! भूखी प्यासी चन्दना सब तरह से निराधार दुःखी हुई बैठी है तभी प्रभु महावीर उसके हाथों से भिक्षा

ग्रहण कर चदना का उद्धार करते है। चन्दना पुन अपने स्वर्गीय वैभव मे लोट आई पर अब उसे इस वैभव की असारता का अनुभव हो गया था, उसे वैराग्य जागृत हुआ और प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर वह प्रथम शिष्या बनी।

कानो मे कीलें —

भगवान महावीर के साधनाकालीन कष्टो का स्मरण होते ही हृदय रोमाचित हो उठता है। चौबीस तीथकरो मे भगवान महावीर ही ऐसे थे जिन्हे साधना काल म इतन भयकर, दिल दहलाने वाले एव मारणातिक कष्ट सहन पडे। एक बार तो उनकी कष्ट सहिष्णुता चरम सीमा तक पहुँच गई। प्रभु एक समय 'छम्माणि' नामक किसी गाव के बाहर खेतो की मेड के पास वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे थे। एक ग्वाला खेतो मे काम कर रहा था। उसे कही जाना था, अपने बैलो को महावीर के पास खडे करके बोला—'ऐ बाबा! जरा ध्यान देना, बैल इधर-उधर न जाये।" और वह कही दूर चला गया।

महावीर ध्यान मे लीन थे। बैल कही चरते-चरते दूर चले गये। कुछ देर बाद ग्वाला आया, बैल दिखाई नही दिये। महावीर से पूछा—"बाबा! बता, मेरे बैल कहाँ चले गये? तूने ध्यान नही रखा ?"

महावीर मौन थे। ग्वाला क्रोध मे लाल-पीला हो उठा। "अच्छा बोलता भी नही! बताता भी नही! लगता है जैसे

हो ! मुक्त हो ! निकल जाओ ! और चले जाओ अपनी राजधानी मे !

मृत्यु के मुह से बचा हुआ असुरराज प्रसन्नता मे झूम उठा। भगवान के चरणो मे बार-बार वदना करके वह निर्भय होकर चला गया।

यह है प्रभु की चरण शरण का अद्भुत चमत्कार ! जो मानव को ही क्या, देव और देवेन्द्रो को भी आश्रय एव शरण दान देता है।

चदना का उद्धार —

प्रभु महावीर ने अपने साधना काल में हर प्रकार से स्वय को तपाया, परखा और साधा। ध्यान, तप, सहिष्णुता, क्षमा आदि प्रत्येक विधि मे वे नये नये प्रयोग और अभिग्रह करते रहे। एक बार प्रभु ने १३ बोल का एक विचित्र अभिग्रह किया। इस अभिग्रह मे अनेक विचित्र बोल थे, जिनका पूर्ण होना प्राय असभव जैसा लगता था। पांच मास और पच्चीस दिन गुजर गये, प्रभु ने न अन्न ग्रहण किया और न जल। आखिर एक दिन चन्दनबाला के हाथो से वह अभिग्रह पूर्ण हुआ। राजकुमारी चदना जो एक दिन किराने की तरह बाजार मे बिकी, वेश्या के हाथो खरीदी गई, फिर सेठ के घर आकर आश्रय लिया। सेठानी ने उसकी दुर्दशा की, हाथो मे हथकडी, पैरो मे बेडी, मुडित सिर ! भूखी प्यासी चदना सब तरह से निराधार दुखी हुई बैठी है, तभी प्रभु महावीर उसके हाथो से भिक्षा

ग्रहण कर चदना का उद्धार करते है। चन्दना पुन अपने स्वर्गीय वैभव मे लौट आई पर अव उसे इस वैभव की असारता का अनुभव हो गया था, उसे वैराग्य जागृत हुआ और प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर वह प्रथम शिष्या वनी ।

कानो मे कीलें —

भगवान महावीर के साधनाकालीन कष्टो का स्मरण होते ही हृदय रोमाचित हो उठता है। चौबीस तीर्थंकरो मे भगवान महावीर ही ऐसे थे जिन्हे साधना काल मे इतने भयकर, दिल दहलाने वाले एव मारणातिक कष्ट सहन पड़े। एक वार तो उनकी कष्ट सहिष्णुता चरम सीमा तक पहुँच गई। प्रभु एक समय 'छम्माणि' नामक किसी गाव के वाहर खेतो की मेड के पास वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे थे। एक ग्वाला खेतो मे काम कर रहा था। उसे कही जाना था, अपने बैलो को महावीर के पास खडे करके बोला—'ऐ वावा ! जरा ध्यान देना, वैल इधर-उधर न जाये।" और वह कही दूर चला गया।

महावीर ध्यान मे लीन थे। वैल कही चरते-चरते दूर चले गये। कुछ देर बाद ग्वाला आया, वैल दिखाई नही दिये। महावीर से पूछा—"वावा ! वता, मेरे वैल कहाँ चले गये ? तूने ध्यान नही रखा ?"

महावीर मौन थे। ग्वाला क्रोध मे लाल-पीला हो उठा। "अच्छा वोलता भी नही ! बताता भी नही ! लगता है जैसे

कुछ सुनाई नहीं देता हो, कानो मे तैल डालकर बैठा है, अभी तेरे कान खोले देता हूँ।" यह कहकर अज्ञान ग्वाले ने पास ही मे पडी काठ की कोई शलाका (कीलें) उठाई और महावीर के कानों मे डाल दी। महावीर कुछ भी नहीं बोले। उसे और क्रोध चढ आया। पत्थर लेकर शलाका को ठोक दी, वह कान के आर पार चली गई। महावीर तीव्र वेदना मे भी शात खड़े रहे। ग्वाला कुछ देर यह तमाशा देखता रहा और फिर चला गया।

असह्य वेदना को भी शाति के साथ सहते हुए प्रभु महावीर वहा से किसी दूसरे गाव की तरफ विहार कर गये। सिद्धार्थ नाम के किसी श्रद्धालु गृहस्थ ने भगवान के कानो मे यह शलाका लगी देखी तो उसका हृदय दहल उठा। इस वेदना की कल्पना से ही उसके मुह से चीत्कार निकल पडी। सिद्धार्थ ने खरक नाम के एक वैद्य को यह बात बताई, वैद्यराज भी सुनते ही पसीना-पसीना हो गया। कितनी भयकर वेदना होगी? सिद्धार्थ वैद्य को साथ लेकर आया, जहाँ प्रभु एकाकी ध्यानस्थ खडे थे। वैद्य ने पूरी शक्ति लगाकर उस शलाका को खीचा, शलाका निकलने के साथ ही कानो से रुधिर की धारा बह चली। भगवान महावीर को इस समय इतनी असह्य वेदना हुई जितनी जीवन मे कभी नही हुई। उनके जीवन मे यह उत्कृष्टतम कष्ट था। किन्तु फिर भी प्रभु ने समता, शाति और प्रसन्नता के साथ उसे सहा। ग्वाले के प्रति उसके मन मे वही भाव था जो सिद्धार्थ और खरक के प्रति रहा। यही तो

उनकी समत्व साधना की चरम कसौटी थी। इस कसौटी मे खरे उतर जाने के कुछ समय बाद ही प्रभु महावीर को केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया।

केवल ज्ञान प्रथम देशना —

भगवान महावीर साढे बारह वर्ष तक कठोर आत्म-साधना करते हुए एक समय ऋजु वालुका नदी के तट पर पहुँचे। वहा किसी खेत मे शाल वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। भावो की विशुद्धतम परिणति मे पहुँचने पर प्रभु ने चार घनघाति कर्मो का क्षय किया। समस्त लोक अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान केवलदर्शन प्रभु को प्राप्त हुआ। देवताओ ने प्रभु का कैवल्य महोत्सव किया, असख्य देवी-देवता प्रभु का उपदेश सुनने आये किन्तु आश्चर्य है कि प्रभु की प्रथम देशना सुनने, एक ही मानव नही पहुँच सका। दूसरे दिन भगवान विहार कर 'मध्यम पावा' नगरी मे आये और वहाँ पर प्रभु के समवसरण की दिव्य रचना हुई।

सत्य के जिज्ञासु इन्द्रभूति —

पावा मे उन्ही दिनो सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण ने विशाल यज्ञ का आयोजन किया था। पूर्व भारत के विभिन्न नगरो से हजारो विद्वान व याज्ञिक इस समारोह मे निमन्त्रित थे। उन सब मे प्रमुख विद्वान थे इन्द्रभूति गौतम। इन्द्रभूति समस्त वेद वेदागो के ज्ञाता एव प्रखर क्रियाकाडी थे। उनके साथ पाच सौ बटुक (छात्र) अध्ययन करने के लिए रहते थे। इन्द्रभूति ने जब पावा मे श्रमण भगवान महावीर के आगमन

की हलचल सुनी, हजारो नागरिको को उनकी तरफ जाते और अगणित देवी-देवताओ को आकाश मण्डल से महावीर की ओर बढते हुए देखा तो वे चकित-भ्रमित से रह गये। उन्हे आशा थी कि ये सब हमारे यज्ञ की आहुति एव आशीर्वाद लेने आ रहे हैं, किन्तु उनका भ्रम टूट गया, एक भारी झटका उनके मन को लगा। मन को समाधान देने के लिए आर्य सोमिल से उन्होने पूछा—"ये देवगण एव असख्य जन समुदाय उधर क्यो जा रहे हैं ? कहा जा रहे हैं ?"

महावीर के आगमन से खिन्न सोमिल ने उत्तर दिया—"आर्य ! आपको नही मालूम ! श्रमण वर्धमान पावा मे आये हैं, वे हमारे वेद एव यज्ञवाद के कट्टर विरोधी हैं ! कठोर साधना के बल पर उन्होने कुछ चमत्कार प्राप्त किये है, उन्ही के बलपर मनुष्यो एव देवताओ को भ्रम मे डाल रखा है, बडा आडम्बर रचा जा रहा है आर्य !"

इन्द्रभूति का ज्ञान छिछला नही था, वे गम्भीर होकर सोचने लगे। आखिर श्रमण वर्धमान के पास क्या चमत्कार है, जिसमे असख्य देवगण आकृष्ट हुए उनके चरणो मे झुक रहे हैं ? हमारी पवित्र यज्ञवेदी को छोडकर भी लोग उधर भागे जा रहे हैं ? जरूर कुछ नवीन उपलब्धि है ? इन्द्रभूति के हृदय मे जिज्ञासा की लहर उठी, वे उसे रोक नही सके। आर्य सोमिल से बोले—'आर्य ! हम यज्ञ समारोह बाद मे करेंगे, पहले अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी श्रमण वर्धमान से शास्त्र चर्चा

करेंगे। इन दिग्गज विद्वानों के समक्ष वर्धमान जैसा नवयुवक कुछ क्षण भी नहीं ठहर पायेगा ? हो सकता है, हम बहुत शीघ्र वर्धमान को भी अपना शिष्य बनाकर उस सम्पूर्ण देव-मानव मण्डलों को इसी पवित्र यज्ञ वेदी की ओर मोड लायें !"

आर्य सोमिल की बाछें खिल गई। वह मधुर स्वप्ना में थिरक उठा—'हां ! हां ! आर्य ! बहुत शुभ संकल्प है आपका ! ऐसा ही हो।"

इन्द्रभूति अपने पाच सौ छात्रों के साथ प्रभु महावीर के समवसरण की ओर बढ गये। महावीर अपने दिव्यज्ञान बल से इन्द्रभूति के मन की हलचल जिज्ञासा और शकाएँ पहले ही जान चुके थे।

इन्द्रभूति एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में गर्व से मस्तक उठाये महावीर के समवसरण में प्रविष्ट हुए। दूर से ही उन्होंने भगवान महावीर का दिव्य मुखमण्डल देखा, भीतर-ही-भीतर गर्व चरमराने लगा। वे जैसे-जैसे निकट आते गये, विनम्र होते गये, ऐसा तेजस्वी, प्रतिभावान श्रमण आज तक देखा नहीं था। ये चकित से महावीर के समक्ष सीधे खडे रह गये। प्रभु महावीर ने गौतम के दिल की गहराई में झाका, उनके अन्तर्मन की हलचलों का जिक्र किया तो गौतम समझ नहीं पाये, श्रमण वर्धमान मेरे मन की गुप्त बातें कैसे जान गये। तभी प्रभु ने कहा—"गौतम ! तुम इतने बड़े ज्ञानी हो, फिर भी अभी यह निर्णय नहीं कर पाये कि आत्मा है या नहीं ?"

गौतम के कान खड़े हो गये। वे आश्चर्यपूर्वक प्रभु महावीर की ओर देखने लगे—"हाँ, मेरे मन में यही एक शंका थी क्या आप इसका समाधान कर सकते हैं आज तक कोई विद्वान मेरी इस शंका का समाधान नहीं कर सका, यदि आप कर सकें तो मैं आपका शिष्य बन जाऊँगा।" इन्द्रभूति तर्क चुनौती भरे स्वर में बोले।

प्रभु महावीर ने सहज गम्भीर मुद्रा में कहा—"इन्द्रभूति! यह एक ऐसा सत्य है, जो प्रतिक्षण अनुभव किया जा रहा है, तुम्हारे और प्रत्येक चेतन के भीतर जो 'मैं' की ध्वनि है। 'अहं' सत्ता की अनुभूति है, क्या वह किसी जड़ को भीतर हो सकता है? यही चेतना आत्मा की सबसे प्रबल व्यावहारिक सिद्धि है फिर भी तुम इसे अनुभव नहीं करते? आश्चर्य! हाँ, चाहो तो वेद, उपनिषद्, तर्कशास्त्र, शब्दशास्त्र और अन्य किसी भी ग्रन्थ से इसकी सिद्धि की जा सकती है।"

महावीर की वाणी और तर्क इतने हृदयस्पर्शी थे कि गौतम चुप नहीं रह सके उन्हें लगा जैसे आज पहली बार उन्हें गुरु मिला है, अज्ञान की परत टूट रही है, आत्मा का अनुभव उनके हृदय को गुदगुदा रहा है। अनेक प्रश्नोत्तरों के बाद इन्द्रभूति का हृदय सम्पूर्ण बदल गया, उनकी आँखों में हर्ष और कृतज्ञता के अश्रु-कण छलक उठे, वे वहीं खड़े प्रभु के चरणों में विनत हो गये—"भंते! मेरा अज्ञान, भ्रम, अहंकार टूट चुका है, आप मेरे गुरु हैं, मुझे शिष्य रूप में स्वीकार करें।"

गौतम की प्रव्रज्या के सवाद से यज्ञ मडप मे एकत्र विद्वानो मे खलबली मच गई। लोग कह रहे थे— श्रमण वर्धमान बडा जादूगर है, इन्द्रभूति जैसे दिग्गज विद्वान को भी दो क्षण मे अपना शिष्य बना लिया।" किन्तु इस पराजय से विद्वद समाज मे और अधिक जोश उमडा, अग्निभूति नामक विद्वान अपने सैकडो शिष्यों के साथ महावीर के समक्ष आये। किन्तु वे भी अधिक देर नही ठहरसके। जहाँ सत्यकी जिज्ञासा हो वहाँ आग्रह नही होता। गौतम सत्य का परवाना बनकर आये थे महावीर की पवित्र ज्ञानज्योति का दर्शन कर वह वापस कैसे लौट सकते थे ? अग्निभूति के विषय म भी यही बात हुई। सत्य का स्पश पाकर वे कृतकृत्य हो गये और वे भी महावीर के शिष्य बन गये। इस प्रकार भगवान महावीर की प्रथम देशना मे ही पावा मे ग्यारह दिग्गज विद्वान और उनके चार हजार चार सौ शिष्य भगवान क चरणा म दीक्षित हो गये।

राजकुमारी चन्दनबाला भी इस सभा में उपस्थित थी। उसका अतरग वैराग्य की हिलोर ले रहा था, वह भी अनेक राजकुमारियों आदि के साथ प्रभु की प्रथम शिष्या बनी। अनेक सदगृहस्थो ने श्रावक धम स्वीकार किया और इस प्रकार चार तीथ की स्थापना हुई।

धम प्रचार —

तीर्थंकर बनकर प्रभु महावीर किसी मठाधीश महत की भाँति आराम से नही बैठे। उनके मन में जिस सत्य को प्राप्त करने

की तड़प थी, वह एक रूप में पूर्ण हो गई थी, किन्तु उन्होंने देखा, साधारण मानव भयंकर अज्ञान व मोह से ग्रस्त हुआ अमूल्य जीवन को कौड़ियों के मोल खो रहा है। तो उन्होंने संकल्प किया, मानव आत्मा को प्रतिबोध देने का। वे गाँव-गाँव नगर-नगर में दिव्यज्ञान की पवित्र ज्योति लिए घूमते रहे, अध्यात्म का अमृत कलश लिए जनता को अमृत बाँटते रहे।

धर्मोपदेश

भगवान महावीर ने देखा—कि यह युग कुछ विचित्र समस्याओं से घिरा है। धार्मिक क्षेत्र में तरह-तरह के मतवाद चल रहे हैं, अलग-अलग पंथ, अलग-अलग गुरु। वे परस्पर एक दूसरे पर आक्षेप करते हैं, एक दूसरे को झूठा तथा अधार्मिक बताकर अपना ही नाम ऊँचा रखना चाहते हैं। कोई कर्मकाण्ड का ही सब कुछ मानता है, कोई सिर्फ ज्ञान से ही आत्मा की मुक्ति बताता है। कोई एकान्त क्षणिकवादी है, कोई कहता है आत्मा कूटस्थ नित्य है, जैसा है वैसा ही सदा बना रहता है, और वे सब एक दूसरे को झूठा मिथ्यात्वी और अज्ञानी बताकर परस्पर कीचड़ उछाल रहे हैं।

धर्म जगत की इस समस्या के समाधान के लिए भगवान महावीर ने लोगों को अनेकान्तवाद का मार्ग बताया। कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य होती है, और न अनित्य। वह अपने बाह्य रूपों में बदलती रहती है और मूल रूप में सदा एक समान रहती है। जैसे—सोना है। किसी ने उसके कुंडल बन-

बाये, किसी ने कुडल तोडकर कगन बना लिये और फिर कगन तोडकर मुकुट बना लिया—इस प्रकार सोने का आकार (बाह्य रूप) बदलता रहा, किन्तु स्वर्णत्व सब मे एक समान स्थिर रहा। यही दृष्टि समस्त द्रव्य और पर्यायो के सम्बन्ध मे है आत्मा, पुद्गल आदि अलग-अलग द्रव्य है, ये मूल रूप मे तो सदा अपने स्वभाव मे रहते हैं, किन्तु पर्याय रूप मे, बाह्य आकार रूप मे बदलते रहते हैं—अत इनको एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक मानकर आग्रह करना, झगडना मूर्खता है। सत्य का मार्ग तो यही है कि वस्तुतत्व को अनेकान्त धर्मी मानकर उसके स्वरूप को समझे और परस्पर समन्वय की दृष्टि से व्यवहार करें।

भगवान महावीर की दृष्टि मे सत्य का ही आग्रह था। वे कहते—"तुम न परम्परा को मुख्य मानो, न अपने विचारो को। किन्तु यह देखो, जो सत्य है जो वास्तव मे तत्व का स्वरूप है वही तुम्हारा सत्य है।" इस दृष्टिकोण को अपनाने से धर्म और दर्शन के सम्बन्ध मे एक नया दृष्टिकोण जनता को मिला। धार्मिक द्वन्द्व कम होने लगे। लोगो मे दूसरो के विचारो को सुनने और समझने की भावना जगी। इस प्रकार अनेकान्तवाद से लोगो मे धार्मिक उदारता वैचारिक सहिष्णुता और विचार करने की भावना का काफी विकास हुआ।

भगवान महावीर का दूसरा मुख्य उपदेश था अहिंसा और अपरिग्रह का। यद्यपि हिंसा को सभी धर्म वाले त्याज्य मानते थे, किन्तु जहाँ यज्ञो मे, पशु बलियां दी जाती, तथा अपने

स्वार्थ के लिए हिंसा करनी होती, वहाँ उस हिंसा को भी धर्म मान लिया जाता और खुलकर उसकी छूट दी जाती। इस कारण यज्ञों में दीन-मूक पशुओं की बलि दी जाती। कहीं कहीं तो देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्यों का भी होम दिया जाता।

भगवान महावीर ने इस हिंसा के विरुद्ध कड़ा प्रहार किया। उन्होंने कहा— हिंसा कभी धर्म हो ही नहीं सकती। धर्म की आड़ में, देवी-देवताओं के लिए हिंसा करना निरा पाखण्ड है। हमें जैसा अपना जीवन प्रिय है वैसा ही प्रत्येक प्राणी को है, चाहे वह पशु है, पक्षी है या वनस्पति या पृथ्वी का जीव है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना किसी को अच्छा नहीं लगता। जब हम किसी को नया जीवन नहीं दे सकते, तो किसी के प्राणों को लूटने का हमें अधिकार क्या है? सृष्टि के छोटे-मोटे प्रत्येक जीव को जीने का हक है, हमें किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए। हिंसा महान पाप है, अधर्म है। धर्म के नाम पर हिंसा करना तो और भी बड़ा पाप है।"

भगवान महावीर ने अहिंसा, करुणा, दया आदि के उपदेश द्वारा हिंसा का घोर विरोध किया। जनता की भावनाएँ भी बदलीं। यज्ञों में भी पशु हिंसा कम हुई, और लोगों में दया तथा करुणा की भावना का अधिक प्रसार हुआ।

उस समय में लोगों में संग्रह की भावना बड़ी प्रबल थी। धन, सम्पत्ति, खेती, मकान, पशु, दास-दासी (नौकर) आदि

सब परिग्रह मे मान जाते थे। समाज के धनी और अधिकारी वग रा ही इन पर कब्जा था, इस कारण साधारण जनता अधिक गरीब थी। जनता मे दीनता, हीनता एव सामाजिक पिछडापन की भावना थी। भगवान महावीर ने अपने उपदेशो से जन जागरण किया। धनी लोगो को परिग्रह का परिमाण करने का उपदेश दिया। इच्छा, लालसा और आवश्यकताओ को काम करने का उपदेश किया। गरीव जनता को श्रम, नीति निष्ठा और साथ ही कर्म पर विश्वास रखने की शिक्षा दी। जन समाज के लिए अपरिग्रह का सीधा अर्थ था—इच्छाओ पर नियन्त्रण करना। आवश्यकता से अधिक सामग्री का त्याग कर देना। भगवान के इन उपदेशो का समाज के सभी वर्गो पर अच्छा प्रभाव पडा। धनी वर्ग ने त्याग का मार्ग अपनाया, और गरीव वग ने सन्तोष, श्रम और कर्म निष्ठा का। इससे समाज मे छाई हुई असामनता, वर्ग भेद, ऊँच-नीच व असतोष की खाई, काफी हद तक दूर हुई और समानता की भावना फैली। यह समानता की भावना ही आज का समाजवाद कहा जा सकता है।

इस तरह अनेकात, अहिंसा और अपरिग्रह का सदेश भगवान महावीर का मुख्य धर्मापदेश था। इसी के साथ कर्मवाद का सिद्धान्त भी भगवान महावीर का एक क्रातिकारी सिद्धात के रूप मे माना जाता है। उस समय अधिकाश धर्म गुरु मनुष्य को ईश्वराधीन प्राणी मानते थे। ईश्वर ही अपनी इच्छानुसार मनुष्य को सुखी-दुखी धनी गरीव व ऊँच-नीच,

बनाता है, ऐसी प्राय मान्यता थी। भगवान महावीर ने कहा—ईश्वर तो सब कर्म बधनो से मुक्त, रागद्वेष रहित सर्वदर्शी और समदर्शी आत्मा है। वह किसी भी प्राणी को न सुख देता है, न दुख ! प्राणी जो भी सुख दुख प्राप्त करता है वह अपने ही पूर्व-कृत कर्मों का फल है। जहा कड कम्म तहासि भारे—जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका फल मिलता है। आक का बीज बोने पर आक मिलता है आम का बीज बोने पर आम ! यदि प्राणी शुभ कर्म करता है तो उसका शुभ फल मिलेगा, अशुभ कर्म करने पर अशुभ फल ! सुख दुख का दाता ईश्वर नहीं प्राणी का स्वकृत कर्म ही है। अत भविष्य का सुख चाहने वाले को सदा शुभ कर्म ही करने चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, कपट, परिग्रह आदि से जितना बचा जाय, आत्मा उतना ही सुख का भागी होता है।

भगवान महावीर के इस कर्म सिद्धान्त से मनुष्य मे नैतिक बल भी जगा और स्वाभिमान भी। अपने भाग्य का निर्माता वह स्वय है—इस भावना ने समाज मे नैतिकता सदाचार और सत्कर्म को बढावा दिया। कर्म सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष यह भी भगवान महावीर ने बताया कि—"कोई भी प्राणी जन्म या जाति से श्रेष्ठ नही होता, किन्तु कर्म से ही श्रेष्ठ होता है।'

उस युग मे ब्राह्मण अपने को पूरी मानव जाति का गुरु मानता था, वह कैसा भी हो, सबका पूज्य समझा जाता था।

साथ ही शूद्रो और निम्नजातियो के साथ बडा घृणात्मक और पशुओ से भी गया गुजरा व्यवहार किया जाता था। जाति-वाद के नामपर यह निरा अहंकार और दभ था। समाज मे इस कारण बडी विषमता थी। भगवान महावीर ने भेद की इन दीवारो को तोडा कर्मवाद के सिद्धान्त द्वारा। उन्होने कहा— "जो ब्रह्मचर्य पाले वही ब्राह्मण है, जो मौन रखे वही मुनि है। उच्च कर्म से मनुष्य श्रेष्ठ होता है नीच कर्म से नीच। उच्च कर्म (आचरण) करने वाला निम्न कुल में जन्मा हुआ हो तब भी वह अपने उच्च कर्म के कारण पूजनीय हो सकता है। उन्होंने यहा तक कहा—' मानव, सच्चे अर्थ मे तभी मानव बन सकता है, जब उसमे नैतिकता हो सदाचार हो, सद्भाव हो।"बस, इन्ही सिद्धान्तो को मूलाधार बनाकर भगवान महा-वीर ने धर्म को जीवन व्यापी रूप दिया। गृहस्थो के लिए आगार धर्म का मार्ग बताया। गृहस्थ मर्यादापूर्वक, नीति निष्ठ और सदाचारजीवन जीयें, सत्य का जिज्ञासु बना रहे, गुरुजनो के प्रति श्रद्धा रखे, और शान्तिमय जीवन बिताये।

भगवान के इस उपदेश ने लाखो व्यक्तियो को प्रभावित किया। वे व्रतधारी श्रावक बने। इन श्रावको मे आनन्द गाथापति, कामदेव, कुभकार शकडालपुत्र आदि प्रमुख थे। पुरुषो की भांति स्त्रियाँ भी भगवान के इस आत्म-उत्थान अभियान मे पीछे नही रही। यद्यपि वह कट्टर रूढिवादी युग था। जाति-वाद का भूत लोगो पर हावी था। स्त्रियो के प्रति बडा ही अन्याय पूर्ण व्यवहार होता था, उन्हे घर की चार दिवारी की

तितली बनाकर रख दिया जाता था। किन्तु भगवान महावीर ने इन सब रूढियों का प्रबल विरोध किया। धर्म साधना में जातिवाद की निन्दा की, स्त्रियों को आत्म उत्थान का समान अवसर दिया। अमीर और गरीब को धर्म क्षेत्र में समान महत्व मिला। महावीर की इन क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं का बहुजन समाज में हार्दिक स्वागत हुआ। यही कारण है कि जहा राजा श्रेणिक उनका शिष्य (श्रावक) बना, वहा आनन्द (कृषिकार) और सकडालपुत्र (कुम्हार) भी उनके प्रमुख शिष्यों में गिने गये। रेवती, जयन्ती, सुलसा आदि विभिन्न वर्गों की नारियां भी अपनी तेजस्विता के कारण महावीर के धर्म संघ की विभूतियां कहलाई। उनके श्रमण व श्रमणी वर्ग में भी सब जाति और सब धर्म परम्पराओं का एक अद्भुत संगम हो गया था। क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र परिवारों में जन्मे अनेक पुरुष श्रमण बने थे, तथा भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण, तापस व परिव्राजक सन्यासी आदि भी भगवान महावीर के धर्म संघ की मर्यादाओं के अनुकूल बनकर उसमें सम्मिलित हुए। सम्पूर्ण भारत में उस समय भगवान महावीर का धर्म संघ सबसे बड़ा और सर्वाधिक तेजस्वी तथा क्रान्तिकारी धर्म संघ माना जाता था। मानव मात्र को, मानवीय महत्व प्राप्त था और साधना करने का अवसर भी।

भगवान महावीर धर्म प्रचार हेतु स्वयं दूर-दूर तक विहार करते रहे। एक बार वे भारत के पश्चिमी अचल सिंध देश की लम्बी पदयात्रा पर भी चल पड़े थे। पूर्वी तट से पश्चिमी

तट तक की कठोर, पथरीली, नदी, नालो जगलो से विकट भूमि को पद यात्रा द्वारा पार करना बहुत ही कठिन कार्य था। इस लम्बी पद यात्रा मे भगवान महावोर के अनेक शिष्य काल कवलित भी हो गये, स्वय भगवान महावीर को अनेक कष्ट झेलने पडे, किन्तु वे तो अतुल बली, मनोबली थे, आखिर सिंधु देश की राजधानी 'वीतभय' नगर मे पहुचे ही, वहाँ का राजा उद्रायण प्रभु की इस अकल्पनीय कृपा से हुए विभोर हो गया, वह भी भगवान का मुख्य श्रावक बन गया।

पुरुषार्थवादी —

भगवान महावीर से पहले व उस युग मे भी नियतिवाद (भाग्यवाद) और दैववाद का बडा जोर था। इनके सहारे लोक निष्क्रियता के शिकार हो रहे थे। हाथ पर हाथ धरे या तो भाग्य की प्रतीक्षा करते रहते या दैव-सहयोग के लिए पुकारते रहते। भगवान महावीर ने इन दोनो को 'पगुवाद' बताया और पुरुष को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी।

एक बार भगवान महावीर पोलासपुर नगर मे पधारे। वहाँ शकडाल (सद्दालपुत्र) नामक धनाढय कुभकार था। अनेक स्थानो पर उसकी पाच सौ दुकाने चलती थी। शकडाल कट्टर नियतिवादी (गोशालक भक्त) था। हर काय मे नियति, होनहार को ला खडा कर देता।

शकडाल ने नगर मे भगवान महावीर का आगमन सुना तो उनको धर्म देशना सुनने के लिए गया। धर्म

देशना के पश्चात् भगवान महावीर ने शकडाल का सम्बोधित किया—"देवानुप्रिय ! पूर्वाह्न मे तुमने कोई देववाणी सुनी ? और तुम उसी से प्रेरित होकर यहा आये क्या यह ठीक है ?"

चकित शकडालपुत्र कुछ क्षण तक भगवान की दिव्य मुख मुद्रा की ओर देखता रह गया। उसे लगा—मेरे मन की गुप्त तम बात प्रभु को कैसे ज्ञात हुई ? अवश्य ही इनका ज्ञानबल अद्भुत है, ये महान तपस्वी है " श्रद्धाभिभूत होकर सद्दाल पुत्र ने विनयपूर्वक वदना की, और प्रभु को अपनी आपणशाला (विशाल दुकान) मे विराम करने हेतु आग्रह किया।

कुछ समय बाद महावीर सद्दालपुत्र की आपणशाला में पधारे। वहाँ चारो ओर मिट्टी के कच्चे बर्तन बन रहे थे सुखाये जा रहे थे, और उन पर रग-बिरगी कारीगरी की जा रही थी। सद्दालपुत्र उनकी देख रख करता हुआ सुहावनी धूप मे घूम रहा था। प्रभु महावीर उसी समय उधर आये। सद्दाल पुत्र ने अभिवादन किया। भगवान बोले—"देवानुप्रिय ! ये बर्तन (भाण्ड) आदि कैसे बने ? कहाँ से आये ?"

सद्दालपुत्र ने कहा—"भते ! पहले मिट्टी थी, उसे पानी में भिगोया गया, फिर क्षार (राख) और करीष (गोबर) मिलाया गया, फिर मला, गोदा, फिर पिंड बनाकर चाक पर चढ़ाया और बर्तन तैयार हो गये।"

"क्या, इनमे कुछ पुरुषार्थ भी करना पड़ा, या ये सब अपने आप ही तैयार हो गये ?" भगवान के प्रश्न मे हृदय को झकझोरने वाली गहराई थी।

सद्दालपुत्र अचकचा कर भूमि की ओर देखने लग गया। नियतिवाद पर उसका गहरा विश्वास था, जो कुछ होता है वह समय के अनुसार अपने-आप होता जाता है मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता, जो कुछ है, होनहार ही है। सद्दालपुत्र की यह मान्यता चरमराने लगी। कुछ सोचकर वह बोला—"भंते! यह सब तो अपने आप होता रहता है, इसमें पुरुषार्थ पराक्रम जैसी कोई बात नहीं है।"

प्रभु महावीर ने प्रति प्रश्न किया—"तो, देवानुप्रिय! यदि कोई दुष्ट पुरुष इन बर्तनों को चुराकर ले जाये, अथवा लेकर पत्थर आदि फेंककर इन्हें फोड़ डाले तो? उसे तुम कुछ कहोगे तो नहीं?"

"भंते! यह कैसे हो सकता है? उस दुष्ट को तो ऐसी पिटाई कर डालूंगा कि हड्डी-पसली टूट जाये।"

क्यों?

"मेरी सब मेहनत मिट्टी में जो मिला देता है।"

उसी गम्भीरता के साथ महावीर पुनः बोले—"देवानुप्रिय! समझो, कोई दुष्ट दुराचारी तुम्हारी प्रिय पत्नी अग्निमित्रा के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उसके साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करे तो उस समय तुम क्या करोगे?"

अपनी भुजाओं पर हाथ फिराते हुए सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—"भंते! ऐसे आततायी का तो अंग-भंग कर डालूंगा,

एक ही झटके में दो टूक ! मेरी भार्या की ओर आँख उठाकर देखने की हिम्मत कोई करे तो ।"

बात को पकड़ते हुए महावीर ने कहा—"देवानुप्रिय ! तुम ऐसा कैसे कह सकते हो ? तुम्हारे नियतिवाद के अनुसार तो न कोई मेहनत करता है, और न कोई उसकी मेहनत को मिट्टी में मिला सकता है, जो कुछ होता है, वह तो पहले से ही नियत होता है। तुम्हारी पत्नी पर आँख उठाने वाला आततायी भी नियतिवश ही ऐसा करता है जैसी होनहार होती है, वह वैसा ही करता है, आदमी नियति की कठपुतली है, फिर उसे दण्ड, वध आदि क्यों ? किसलिए ? पुरुष का इसमें दोष क्या है ?"

सद्दालपुत्र को जैसे गहरा झटका लगा, कुछ क्षण तक वह मौन हुआ सोचता रहा। आज वह नियतिवाद को स्वयं ही नकार रहा था और पुरुषार्थ को स्वीकार करता जा रहा था। नियतिवाद की असारता और जीवन के साथ अव्यावहारिकता की कलई खुल गई। उसने कुछ क्षण बाद प्रभु के सामने हाथ जोड़कर कहा—"भंते ! सचमुच नियतिवाद अपने आप में एक वंचना है। आपका दर्शन यथार्थ है। मैं भूला था, आज समझ गया।"

सद्दालपुत्र ने प्रभु से धर्म का रहस्य सुना और उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया। अब वह पुरुषार्थवादी श्रमणोपासक बन गया।

जीवन दृष्टि —

एक बार राजगृह के उद्यान मे भगवान महावीर धर्म परिषद मे बैठे थे। एक गलित-कुष्ट मे पीडित पुरुष सभा को चीरता हुआ सीधा भगवान महावीर के सामने आ खडा हुआ। भगवान महावीर की तरफ देखकर उसने कहा—"तुम शीघ्र मरो।"

महाराज श्रेणिक ने कुष्ठी की यह असभ्य वाणी सुनी तो उन्हे बहुत रोष आया। तभी ढिठाई से हसता हुआ कुष्ठी श्रेणिक की ओर देखने लगा और बोला—"महाराज! आप दीर्घजीवी हो।" महाराज श्रेणिक का पारा और भी गर्म हो गया, मेरे भगवान को तो जल्दी मरो, और मुझे दीर्घजीवी हो।" सम्राट के कोपारुण नेत्रो को देखकर पास मे बैठा महामन्त्री अभय भी चौकन्ना हो गया अभयकुमार कुछ बोलने ही वाला था, कुष्ठी ने कहा—"तुम चाहे जीवो या मरो।" श्रेणिक ने देखा, कुष्ठी कुछ अर्धविक्षिप्त सा प्रलाप कर रहा है। तभी कुष्ठी ने काल शौकारिक कसाई की ओर देखकर कहा—"तुम न जीओ और न मरो।" अब तो महाराज श्रेणिक को पूरा विश्वास हो गया, यह कोई पागल है, उसने अग रक्षको की ओर सकेत किया, अगरक्षक कुष्ठी को पकडने दौडे पर तब तक वह गायब! सभी चकित-से देखते रहे, यह क्या छुई-मुई का खेल हुआ? वह पागल कोढी अभी यहाँ खडा था, अब कहा गायब हो गया?

श्रोताओं की बढ़ती हुई जिज्ञासा को देखकर भगवान महावीर बोले—"राजन् ! आश्चर्य न करो ! वह कोढ़ी, कोई मनुष्य नहीं, देव था, उसका कथन पागल का प्रलाप नहीं, किन्तु एक कठोर सत्य की अभिव्यक्ति था।"

राजा श्रेणिक ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"कठोर सत्य ? वह कैसा भंते !"

भगवान महावीर ने उसके चारों कथन का रहस्य खोलते हुए बताया, उसने मुझे कहा— तुम शीघ्र मरो ! तो यह उसका भाव था कि मैं अपने जीवन में कृत-कृत्य हो गया हूँ, अब आयुष्य बन्धन के कारण ही कुछ समय तक तुम लोगों के बीच बैठा हूँ, मेरी मृत्यु ही अन्तिम मृत्यु है यही मोक्ष है, अतः उसका अर्थ है, मैं शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करूँ।"

राजा की जिज्ञासा बढ़ती गई। प्रभु ने आगे कहा— "राजन् ! तुम्हारे जीवन के लिए यह कटु सत्य है कि तुम्हारा सुखी जीवन यहीं है, ऐसा आगे नहीं है। तुमने हिंसा, असत्य आदि का आचरण किया है, और खुलकर किया है, अतः इस जीवन में दीर्घकाल तक जीते रहने का अर्थ है, तुम सुखपूर्वक रहो ! क्योंकि यहाँ तुम सत्संग भी कर सकते हो, परोपकार का पुण्य भी प्राप्त कर सकते हो, किन्तु अगला जीवन अन्धकारमय है नारकीय कष्टों से घिरा हुआ।"

प्रभु के द्वारा कटु सत्य की घोषणा सुनते ही महाराज श्रेणिक का धैर्य विचलित हो गया। उनकी आँखों में अश्रु

धारा वह चली—"प्रभो ! क्या मेरा अगला जीवन सुधर नही सकता !"

"राजन् ! क्यो नही ! किन्तु, अब तक जो पापाचरण तुमने किये है, उनका फल तो बिना भोगे छुटकारा नही होगा। जब से तुम सम्यक् ज्ञानपूर्वक अपना जीवन बिता रहे हो, तबसे तुम अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण भी कर रहे हो, और सच तो यह है कि तुम आने वाले भविष्य मे मेरे जैसे ही धर्म तीर्थंकर बनोगे।"

महाराज श्रेणिक सहसा उछल पडे। नारकीय यातनाओं का भय भूल चुके ! और प्रभु से अगली बात पूछने लगे। प्रभु ने कहा—"अभयकुमार का जीवन एक साधक का जीवन है, वह यहाँ भी धर्माचरण करता रहा है, और आगे भी करेगा, यहाँ भी वह सुखी है, और आगे भी । धर्म तो नगद सौदा है, जो यहा धर्म करे वह यहाँ भी सुखी और आगे भी सुखी ! और चौथी बात कालशौकरिक के विषय मेंकही गई, वह यहाँ भी हत्या, हिंसा, पापाचार मे फँसा है, और आगे इसी के कटुफल भोगना होगा, हिंसक और पापी को न यहाँ सुख होगा न आगे ।"

"प्रभो ! सचमुच आप ने एक दिव्य जीवनदृष्टि दी है। जीवनधर्म का स्पष्ट निर्देशन किया है"—महाराज श्रेणिक श्रद्धा-नत हो गये, और सम्पूर्ण परिषद् के हृदय मे एक नई प्रकाश किरण सी दौड गई, लोग यही सोचते सोचते उठे—"जो यहाँ धर्म करेगा उसका यह लोक भी सुधरेगा और परलोक भी !"

इस प्रकार प्रभु महावीर जनता को धर्म का रहस्य समझाते हुए बिहार, बगाल, अग, मगध आदि जनपदो मे दीर्घकाल तक विचरते रहे।

गौशालक जो कभी प्रभु महावीर का शिष्य बना था, उनके द्वारा साधना का कुछ रहस्य पाकर छोटी-मोटी सिद्धियाँ भी प्राप्त करली, किन्तु उसका उद्देश्य बडा ही निम्न था, वह चमत्कारो मे पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता था और महावीर साधना मे चमत्कार प्रदर्शन के विरोधी थे। स्वय प्रभु महावीर ने अनन्त चमत्कारो को प्राप्त करके भी कभी उनका प्रदर्शन नही किया। गौशालक प्रभु महावीर का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी बन गया, वह भगवान की मुह छूट निंदा करने लगा। एक बार तो भरी सभा में उन पर तेजोलब्धि छोडने का दुस्साहस भी कर चुका, किन्तु उसका कटु फल उसी के सिर पडा। अपनी तेजोलब्धि से स्वय ही दग्ध हो गया और लोगों ने देखा, अपना जूता अपने सिर वाली कहावत चरितार्थ हो गई। प्रभु महावीर के शरीर पर भी तेजोलब्धि का कुछ प्रभाव जरूर हुआ, उनकी चमडी जल गई, किन्तु फिर भी वे शांत गम्भीर और प्रसन्न थे, सचमुच वे क्षमा के क्षीर सागर थे।

प्रभु महावीर बहत्तर वर्ष की आयु तक जनपद म विहार करते रहे। अन्तिम समय मे उन्होंने पावापुरी मे चातुर्मास किया। कार्तिक वदी अमावस्या के दिन प्रभु अनन्य न नारियों को अपना अन्तिम संदेश देते रहे, और धर्म संदेश देते देते ही

अमावस की रात्रि को पूर्ण शांति एवं समाधि के साथ देह मुक्त होकर सिद्ध दशा को प्राप्त हुए।[1]

भगवान का निर्वाण होते ही एक बार समूचा संसार अंधकार में डूब गया। कहते हैं, उस रात्रि के अंधकार की भयानकता कम करने देवताओं और मनुष्यों ने रत्नों से प्रकाश किया। तभी से उस दिन की पुनीत स्मृति में रात्रि में ज्योति जलाने की परम्परा चल पड़ी, जिसे आज भी संसार दीप मालिका के रूप में मना रहा है। दीप मालिका भगवान महावीर का निर्वाण दिवस है। यह तप और ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रेरक त्योहार है।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १०। सर्ग १३

□□

---

१ भगवान महावीर की अंतिम वाणी 'उत्तराध्ययन सूत्र' के रूप में आज भी श्रद्धा के साथ पढ़ी-सुनी जाती है।